प्रेमचन्द की उपन्यास-कला

लेखक

प्रो॰ जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज,' एम॰ ए॰

प्रकाशक
मंगल प्रसाद सिंह
वाणी-मन्दिर, छपरा (बिहार)

द्वितीय संस्करण : डेढ़ हजार
मूल्य : [illegible] रुपया
मई, १९५१ ई०

मुद्रक
विद्यावती देवी
वाणी-मन्दिर प्रेस, छपरा (बिहार)।

प्रेमचन्दजी

को

जो अब यहाँ नहीं हैं

वक्तव्य

समीक्षा को भी मैं एक प्रकार का सत्यान्वेषण ही समझता हूँ और इस छोटी-सी पुस्तक के द्वारा, अपने जानते, अपनी उसी विनम्र चेष्टा का परिचय दे रहा हूँ जो एक सत्यान्वेषी समीक्षक के आत्म-विश्वास तथा उसके उद्देश्य की सचाई से सम्बन्ध रखती है। यह दूसरी बात है कि जिसको मैं 'सत्य' के रूप में ग्रहण कर रहा हूँ उसको दूसरे-दूसरे लोग कुछ और ही समझते हों। पर ऐसा तो हुआ ही करता है। सत्य का अनुसन्धान भी कई तरह से किया जाता है और उसकी अनुभूति भी सब को एक ही प्रकार की नहीं हुआ करती। जिस कलाकार को मैं प्रेम का प्रसारक समझता हूँ, उसी को कोई सज्जन घृणा का प्रचारक समझ सकते हैं। यह तो अपनी-अपनी अध्ययन-शक्ति, अनुभूति, मनोवृत्ति और नैतिक संस्कृति का फल है। हाँ, यह हो सकता है कि कहीं-कहीं 'सत्य' के पहचानने में मुझ से भूल हो गई हो। सो, इस प्रकार के भूलों को सुधारने के लिए तो मैं बराबर तैयार ही रहता हूँ और अपने को उन कृपालु सज्जनों का आभारी समझता हूँ जो मुझे मेरी वास्तविक भूलें बता कर उपकृत किया करते हैं।

इस पुस्तक को तैयार करने में 'वरदान', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'प्रतिज्ञा', 'गबन' और 'कर्मभूमि' के प्रथम संस्करण की प्रतियों से काम लिया गया है तथा

'निर्मला' के द्वितीय, 'गोदान' के तृतीय और 'सेवासदन' के चतुर्थ संस्करण की प्रतियों से।

प्रेस एक ऐसी जगह है जहाँ महान साहित्य-स्रष्टा 'रवि बाबू' तक को 'कवि बम्बू' बन जाना पड़ता है! फिर बेचारे 'साहित्य' को अगर 'साहिप्य' बन जाना पड़े तो आश्चर्य ही क्या? इतनी सतर्कता से काम लेने पर भी पुस्तक में प्रूफ की भूलें रह ही गईं। इसके लिए मैं अब, अपनी ओर से और प्रेस की ओर से, क्षमा माँगने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता हूँ!

हाँ, इस अवसर पर, जब कि इस पुस्तक को द्वितीय संस्करण का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है, मैं अपने पाठकों को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता। आशा है, इसको इस परिमार्जित और परिवर्द्धित रूप में देख कर उन्हें प्रसन्नता होगी। पर मेरी प्रसन्नता का प्रकाश उस शोक के अंधकार से ढका हुआ है जो 'प्रेमचन्द' के अस्त हो जाने से सम्बन्ध रखता है। आज रह-रह कर उनकी स्मृति विकल बना रही है। जिस पुस्तक के पहले संस्करण की पहली प्रति उनके हाथों पर रखते हुए एक अनुपम आह्लाद का अनुभव किया था उसी का दूसरा संस्करण समर्पित करने के लिए आज मुझे अश्रु-विह्वल होकर उनके उन अलभ्य चरणों की करुण कल्पना करनी पड़ रही है जिनपर मेरे मस्तक के बदले इन दिनों देवताओं के वरदान लोट रहे होंगे!

राजेन्द्र कॉलेज, छपरा
१ मई, १९४१ ई०

ज० प्र० द्विज

सूची

प्रेमचन्द की उपन्यास-कला

विषय-प्रवेश

कथा-साहित्य का उद्भव

हम केवल अपने आपको ही अभिव्यक्त करके संतुष्ट नहीं हो जाते, औरों के जीवन की बाहरी तथा भीतरी स्थिति का भी ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। हमारी जो मनोवृत्ति हमें मानव-व्यापार की इस अनुरक्ति-सीमा के बाहर नहीं निकलने देती, और दूसरों के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ सुनने, जानने, समझने तथा कहने के लिए उत्सुक बनाये रहती है, उसी की प्रेरणा का परिणाम है कथा-साहित्य।

जीवन स्वयं एक कहानी है। इसी कारण, जीवन के घटना-चक्र में नैसर्गिक अभिरुचि रखनेवाली मानव-जाति, आदि काल से ही, कथा-साहित्य को प्यार-पूर्वक अपनाती चली आ रही है। विश्व की प्रायः समस्त प्राचीन भाषाओं में इसके प्रारंभिक रूप का अस्तित्व बोध कराने वाली बातें विद्यमान हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानों भाषा की उपलब्धि के साथ ही मनुष्य में कथा-प्रेम का भी प्रादुर्भाव हो गया; भावाभिव्यक्ति की साधन-सुविधा पाते ही लोग 'कुछ कहने' तथा 'कुछ सुनने' का काम तो करने ही लगे, 'कुछ गढ़ने' की ओर भी उनकी प्रवृत्ति चल पड़ी।

इसके प्रति मानव-जाति का पुराना प्रेम

हमारे यहाँ के ऋग्वेद, ब्राह्मणों, उपनिषदों, बौद्ध-साहित्य, जैन-साहित्य तथा नीति-ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले अन्यान्य ग्रन्थों में कथा-साहित्य के प्रारंभिक स्वरूप का अवलोकन कर यह स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि उन दिनों गंभीर-से-गंभीर विषय को समझाने तथा लोक-ग्राह्य बनाने का सब से अच्छा और प्रभावशाली साधन यही समझा जाता था। कहानी कला का आश्रय लेकर चलने में लोग, स्वभावतः, एक प्रकार

।न काल में इसका महत्त्व और उपयोग

की सुगमता का अनुभव करते थे, कर्त्तव्य–चेष्टा को क्लान्ति से बचाये रखने की सुविधा पाते थे। जीवन–व्यापार की प्रत्येक दिशा में इस कला का स्वच्छन्द प्रवेश था, जीवन–प्रवाह की एक-एक गति पर इसका प्रेमपूर्ण नियंत्रण था। इसका काम केवल हँसाना, सुलाना, मनोरंजन करना तथा उपदेश देना ही नहीं था; समाजनीति, धर्मनीति, राजनीति, दर्शन और साधारण शिष्टाचार से सम्बन्ध रखने वाली छोटी–मोटी बातों पर भी इसी के द्वारा प्रभाव डालने की चेष्टा की जाती थी। बड़े–बड़े ज्ञानोपासकों तथा धर्मोपदेशकों ने इसी की सहायता से अपने कर्म-पथ को सुगम बनाया, उद्देश्य-सिद्धि के प्रयत्न में सफलता प्राप्त की।

इसके विस्तार का कारण

सामाजिक तथा कलात्मक स्थिति के परिवर्त्तन–चक्र-द्वारा परिचालित मानव-प्रवृत्ति, जैसे–जैसे अपनी प्रेरणा को प्रगतिशील बनाती जाती है वैसे–ही–वैसे उसमें उद्भावना-शक्ति का विकास होता जाता है और उसी के फल-स्वरूप होता है कथा-साहित्य के वैभव का विस्तार।

हिन्दी के क्षेत्र में इस प्रकार की प्रेरणा और उद्भावना-शक्ति का प्रथम साक्षात्कार हमें 'रानी केतकी की कहानी' ने कराया। हमारे कथा-साहित्य के इतिहास

हिन्दी के कथा-साहित्य का विकास-क्रम

में न तो इसके पहले किसी प्रकार की उल्लेखनीय महत्त्व का आगमन हुआ था, न कुछ दिनों तक इसके पीछे ही हुआ—बस, संस्कृत-साहित्य से ली हुई पौराणिक तथा धार्मिक कथाओं की ही प्रधानता रही। हाँ, इसके बाद, भारतेन्दु-काल में आकर इसकी विकास-धारा नये वेग से चली—और खूब चली। किन्तु, उस 'वेग' में भी बाहर से ही कुछ खींच लाने की शक्ति प्रबल दीख पड़ी—भीतर से कुछ निकालकर ले चलने की नहीं। लाला श्रीनिवास दास-कृत 'परीक्षागुरु', बाबू राधाकृष्ण दास के 'निस्सहाय हिन्दू' और पं० बालकृष्ण भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा 'सौ अजान और एक सुजान' नामक उपन्यासों के अतिरिक्त और जितने भी उपन्यास निकले वे प्रायः सबके-सब अनुवाद ही थे। सारांश यह की उस युग ने हमारे कथा-साहित्य में सम्पन्नता लाने की चेष्टा तो की परन्तु मौलिकता के अभाव को वह दूर न कर सका।

'सरस्वती-द्वारा' मौलिकता की अभिवृद्धि

मौलिकता के अभाव को कथा-साहित्य की सीमा से बाहर निकालने का प्रयत्न तब किया जाने लगा जब 'सरस्वती' का प्रादुर्भाव हुआ। इसके आते ही हिन्दी का गौरव-मन्दिर

इसी तरह, धीरे-धीरे, हिन्दी की कहानियों में मौलिकता के वैभव बढ़ने लगे। 'सरस्वती', 'इन्दु' और 'गृहलक्ष्मी' आदि में नई-नई कहानियाँ निकलने लगीं। प्रसाद जी, जिज्ञाजी, राजा राधिका-रमण सिंह, पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० ज्वालादत्त शर्मा तथा श्री चतुरसेन शास्त्री प्रभृति प्रतिभाशाली लेखकों की रचनाएँ हिन्दी के पाठकों के लिए अभिनव आशा और अपूर्व उल्लास ले आईं।

मौलिक कहानी-लेख

यहाँ इस बात का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि जिस समय आधुनिक काल की मौलिक कहानियों का विकास हो रहा था उस समय तक हिन्दी में कुछ मौलिक उपन्यास भी आ गये थे। सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास-लेखक बाबू देवकीनन्दन खत्री की रचनाएँ बहुत पहले ही से ख्याति पाये चली आ रही थीं। यद्यपि उनके उपन्यासों में घटना-वैचित्र्य के अतिरिक्त और कोई भी साहित्यिक तत्त्व नहीं है फिर भी उनका एक निजी महत्त्व है। उनकी 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' ने हिन्दी का बहुत बड़ा उपकार किया है।

मौलिक उपन्यास-लेखक

उपन्यासों का पर्वत खड़ा करनेवाले दूसरे मौलिक उपन्यास-लेखक थे पं० किशोरीलाल गोस्वामी। उनकी रचनाओं में साहित्यिक सौन्दर्य्य का अभाव नहीं है। किन्तु वह सौन्दर्य्य कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक चटकीला और कुप्रभावोत्पादक हो गया है। उनकी रस-संचार की प्रणाली कुछ-कुछ असात्विक भावों और दृश्यों को भी अपने साथ रखती हुई-सी दीख पड़ती है। फिर भी, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उन्होंने, मौलिकता के नाते, हिन्दी के इस क्षेत्र में बड़ी मुस्तैदी से काम किया और उनमें उपन्यासकार होने की सच्ची क्षमता थी। यह दूसरी बात है कि उस क्षमता को वे बहुत अच्छे ढंग से, बहुत अच्छी रुचि के साथ, काम में न ला सके।

मौलिक उपन्यास तो दो 'हरिऔध' जी ने भी लिखे— 'ठेठ हिंदी का ठाट' और 'अधखिला फूल'—पर, केवल भाषा का नमूना दिखाने के लिए, उपन्यास-कला की दृष्टि से नहीं।

इसी तरह मेहता लज्जारामजी ने भी 'धूर्तरसिक लाल', 'आदर्श दम्पति', 'आदर्श हिन्दू' आदि छोटे-बड़े उपन्यास लिखे। किन्तु, उनमें भी औपन्यासिक होने की क्षमता प्रायः नहीं-ही के बराबर थी।

हाँ, भाव-प्रधान शुद्ध साहित्यिक उपन्यास प्रस्तुत करने का श्रेय बाबू ब्रजनन्दन सहाय को अवश्य मिलना चाहिये। इनके 'लालचीन', 'सौन्दर्य्योपासक' तथा 'राधाकान्त' नामक उपन्यास बहुत ही अच्छे हैं।

इन मौलिक उपन्यासों तथा नये ढंग की मौलिक कहानियों ने मौलिकता का मार्ग प्रशस्त अवश्य बना दिया पर अभी तक वह जैसे सूना-सा मालूम पड़ता था। अपनी अलौकिक प्रतिभा का तेज बरसाते हुए, पूरी सजधज के साथ, उस मार्ग पर सम्राट् की तरह चलनेवाले 'प्रेमचन्द' जी अभी तक हिन्दी के क्षेत्र में नहीं आये थे। इनकी कला अभी तक उर्दू-साहित्य की ही उज्ज्वलता बढ़ा रही थी, उसीको गौरव-ज्योति प्रदान कर रही थी। हमारे साहित्याकाश में इनका प्रथम उदय तो सन् १९०५ ई० में ही समझा जाना चाहिये; जब प्रयाग के इण्डियन प्रेस से इनकी 'प्रेमा' निकली थी। पर वह इनका प्रकाश न फैला सकी और, सन् १९१६ ई० तक, एक तरह से ये कुहरे में ही ढके रहे। हाँ, उसके बाद जब 'सरस्वती' और 'लक्ष्मी' में इनकी कहानियाँ निकलने लगीं तब लोगों ने अनुभव करना प्रारंभ किया कि हिन्दी के कथा-साहित्य में शीघ्र ही युगान्तर

प्रेमचंद का उदय और कथा-साहित्य में युगान्तर

उपस्थित होनेवाला है। वही हुआ भी। छोटी-छोटी कहानियों के साथ-साथ ये उपन्यास-रचना में भी प्रवृत्त हुए और इनकी सुन्दर-सुन्दर कृतियों से हिन्दी का उल्लास-मय गौरव बढ़ने लगा।

उपन्यास के नाम से हिन्दी को इन्होंने जो पहली चीज दी वह थी वही सन् १९०५ ई० वाली 'प्रेमा'—जो 'प्रेमा' और इनके उर्दू 'हम .खुरमा व हम सवाब' का 'सेवासदन' अनुवाद है। पर उस छोटी-सी 'जेबी किताब' को कहानी कहना ही ठीक जँचता है। उसमें एक विधवा विवाह कराने के अतिरिक्त औपन्यासिक के नाते प्रेमचन्दजीने और कुछ किया भी नहीं है, इसीसे लोग उसे उतना जानते भी नहीं। किन्तु, उसके बाद आये हुए—हमारे कथा-साहित्य का कायापलट करनेवाले—इनके 'सेवासदन' नामक उपन्यास ने हिन्दी-संसार को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। लोगों ने उसे बड़े प्यार और आदर से अपनाया। इसी तरह अपनाई जाने योग्य वस्तु वह थी भी। समाज की रूढ़िग्रस्त दुर्बलताओं तथा दुरवस्थाओं के जो मार्मिक चित्र उसमें खींचे गये हैं वे अत्यन्त कोमल और करुण हैं। उस उपन्यास के कलात्मक सौन्दर्य्य पर लोग इतना अधिक रीझ गये कि उन्हें आशंका होने लगी कि

स्वयं प्रेमचन्दजी भी अब इससे अच्छा उपन्यास शायद न लिख सकें।

लोगों की यह धारणा और भी दृढ़ हो गई जब उसके बाद ही इन्होंने हिन्दी-जगत को एक छोटा-सा 'वरदान' दिया। यद्यपि यह छोटा-सा उपन्यास भी कला की दृष्टि से कुछ कम उत्कृष्ट नहीं है तो भी इसमें 'सेवासदन' के रचयिता की उन्मुक्त प्रतिभा का विस्तार नहीं दीख पड़ता। इसका कारण यह है कि इसकी भी रचना 'सेवासदन' से बहुत पहले ही हो चुकी थी, यद्यपि हिन्दी में आया यह उसके पीछे। 'सेवासदन' के पहले ही उर्दू में इन्होंने एक बहुत बड़ा परिहास-प्रधान उपन्यास लिखा था—जो कहीं छप न सका और अब जिसकी पांडुलिपि का भी पता नहीं है। उसीकी मूल कथा-वस्तु लेकर इन्होंने इस उपन्यास की रचना की। इसमें इन की रचना-शैली का सौन्दर्य्य उतना निखरा हुआ नहीं है—हो भी नहीं सकता था। कर्त्तव्य की कठोर साधना में निरत रहनेवाले पुरुषत्व की प्रेमार्द्रता, अभाव से भरे हुए नारी-हृदय की उद्दीप्त वेदना के साथ मिलकर, क्या क्या करुण क्रीड़ाएँ करती हैं, इसीका सजीव चित्रण इस पुस्तक का जीवन है। इसके अतिरिक्त, पारिवारिक और

'वरदान'

सामाजिक विषयों से सम्बन्ध रखनेवाली, कितनी ही ऐसी बातें इसमें आ गई हैं जो किसी भी कृति की शोभा कही जा सकती हैं।

इसके बाद ही लोगों ने 'प्रेमाश्रम' देखा। आशंका जाती रही, आशा ने नये रूप में अपनी झलक दिखाई। कृषक-जीवन की दयनीय दशाओं तथा मानवीय प्रवृत्तियों का मार्मिक एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करनेवाला यह उपन्यास भी देखते ही देखते लोक-प्रिय बन बैठा। किसानों और जमींदारों के अधिकार-युद्ध की इस करुण कथा के कलात्मक रूप पर भी लोग खूब रीझे।

'प्रेमाश्रम'

इसके अनन्तर 'रंगभूमि' आई। जीवन-संग्राम में, सत्याग्रह-द्वारा, दिव्य विजय प्रदान करानेवाली निष्काम कर्म-भावना तथा सुदृढ़ आत्मनिष्ठा का महत्त्व प्रदर्शित करनेवाले इस उपन्यास ने भी मानव-स्वभाव के जटिल रहस्यों की अत्यन्त हृदयग्राही और मनोरंजक व्याख्या की। इसकी लोकप्रियता से भी एक बार फिर वही आशंका जीवित हो उठी कि ऐसा अच्छा उपन्यास अब प्रेमचन्दजी की लेखनी से शायद ही निकल सके।

'रंगभूमि'

'कायाकल्प'

इतने ही में 'कायाकल्प' ने इनकी प्रतिभा को एक नये ही रूप में अभिव्यक्त कर दिखाया। इसके सम्बन्ध में कम-से-कम, इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि जीवन-व्यापार की मार्मिकता के नाते, तथा मनोवैज्ञानिक स्थिति की विश्लेषण-कला की दृष्टि से यह 'रंगभूमि' से भी बढ़कर है। किन्तु, इसमें कथा-तत्त्व की अवहेलना करनेवाली जिस अलौकिकता को प्राधान्य दिया गया है—जन्म-जन्मान्तर की भूखी आकांक्षाओं तथा प्यासी लालसाओं का परिणाम प्रत्यक्ष करने के लिए, जिस अपार्थिव और अविश्वसनीय वातावरण की सृष्टि की गई है—उसके ऊपर, हृदय चाहे रम जाय, विश्वास नहीं जमता। जिस 'कला' पर भाव और बुद्धि की समान आस्था हो वही सब प्रकार से 'पूर्ण' समझी जानी चाहिए। इसमें पाठकों की इस समन्वित आस्था को टिका रखने की क्षमता का अभाव-सा है। तो भी, अपना एक भिन्न अस्तित्व रखनेवाला, यह आकर्षक उपन्यास बहुत ही सुन्दर है। इसके द्वारा सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं पर तो मनोरंजक प्रकाश डाला ही गया है, आध्यात्मिक रहस्यों की उद्भावना भी इसमें बड़ी सुन्दरता से की गई है।

'कायाकल्प' के बाद ही 'निर्मला' निकली। इसमें उस अवाञ्छित विधुर-विवाह के दुष्परिणाम दिखलाये गये हैं जो, पहली स्त्री से प्राप्त सन्तति के रहते

'निर्मला' हुए भी, जरावस्था में, केवल वासना-तृप्ति के उद्देश्य से किया जाता है और जो हमारे समाज की निर्दोष बालिकाओं के लिए सबसे बड़ा दाहक अभिशाप है। 'सेवासदन' की तरह यह उपन्यास भी कोमल और करुण भावनाओं से भरा हुआ है। किन्तु, घटना-क्षेत्र के संकोच से, यह उसकी समता नहीं कर सकता।

अब 'प्रतिज्ञा' की बारी आई। यह भी, 'निर्मला की तरह, एक छोटा-सा सुन्दर सामाजिक उपन्यास है। प्रेम-साधना में संलग्न रहकर भी हृदय कर्त्तव्य-

'प्रतिज्ञा' भावना के आग्रह का किस प्रकार पालन कर सकता है, जीवन को सेवा और त्याग का आधार बनाकर, उसे 'उत्सर्ग' के रुप में बदलकर, प्रेम के किस मंगलमय रुप का विधान किया जा सकता है, यही इसमें दिखलाया गया है। इसे 'प्रेमा' का ही परिवर्द्धित और परिष्कृत रूप समझना चाहिए।

इन छोटे-छोटे उपन्यासों के अनन्तर फिर बड़े

उपन्यासों की बारी आई और 'गबन' निकला। इसने हमें बताया कि मनुष्य के जीवन की परिस्थिति, उसकी एक-एक बात का, उसके एक-एक विचार और कार्य का, हिसाब रखनेवाली है। इस हिसाब में उससे कहीं किसी प्रकार की भूल हुई और वह बिगड़ी ! एक छोटी-सी दुर्बलता के कारण मनुष्य को कहाँ-से-कहाँ चला जाना पड़ता है, क्या-से-क्या हो जाना पड़ता है, इसीका घटना-चित्र इसमें अंकित है। 'प्रेमा' के पहले ही छोटा-सा एक और उपन्यास भी प्रेमचन्दजी ने उर्दू में लिखा था, जिसका नाम था 'कृष्णा'। उसीके आधार पर, नये ढंग से इस उपन्यास की कथा-वस्तु का विधान किया गया है। स्त्रियों के अत्यधिक आभूषण-प्रेम तथा पुरुषों की मिथ्या वैभव-प्रदर्शन की कुप्रवृत्ति के संयोग से जिस अनर्थकारी परिणाम की सृष्टि होती है उसकी कथा बड़े मार्मिक ढंग से इसमें कही गई है।

'गबन'

इसके उपरान्त अब 'कर्मभूमि' आई। हमारे राष्ट्र के निर्माण-कार्य में दलितों, गरीब किसानों और मजदूरों की दुरवस्था के सुधार का प्रश्न कितना महत्त्वपूर्ण है और इस प्रश्न की जटिलता

कर्मभूमि

दूर करने के लिए हमें क्या-क्या करना चाहिए, यही इसमें बतालाया गया है। इसका पहला आधा हिस्सा तो बहुत ही सुंदर है, किन्तु दूसरे आधे हिस्से में कथा की रुचि और उत्सुकता बढ़ाने वाली क्षमता कुछ दब सी गई है; और, ऐसा मालूम पड़ता है जैसे बहुत-सी बातें 'रंगभूमि' से ही उधार ले ली गई हैं।

'गोदान'

इनका अंतिम उपन्यास 'गोदान' वस्तुतः अपना नाम सार्थक ही करता हुआ आया। इधर यह निकला उधर इसके निर्माता चल बसे! ग्रामीण उच्चारण की स्वाभाविकता के विचार से, इसका नाम पहले 'गौदान' रखा गया था। इन पंक्तियों के लेखक ने उक्त नाम को पसंद नहीं किया। अत., जैसा कि प्रेमचद जी स्नेह-वश किया करते थे, उसी क्षण 'गौ' की जगह 'गो' लिख दिया गया।

कुछ लोगों का कहना है कि प्रेमचद जी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास यही है। किन्तु समीक्षात्मक विचार-दृष्टि इस साधारण लोकमत को पूर्ण सत्य के रूप में स्वीकार नहीं कर सकती। इसे तो 'प्रेमाश्रम' का ही परिवर्त्तित और कुछ-कुछ परिष्कृत रूप समझना चाहिए, क्योंकि इसमें कोई नई बात, कोई नवीन समस्या, कोई नूतन संदेश नहीं परिलक्षित होता। श्रम-जीवियों तथा सुख-सेवियों के जीवन-

संग्राम का वर्णन इसमें भी प्रायः उसी ढर्रे पर किया गया है जो 'प्रेमाश्रम' के आकर्षण का केन्द्र है। फलतः, यह उपन्यास भी सुंदर है—बहुत सुंदर है—पर सब से बढ़ कर सुंदर नहीं। हमारे देश की मानव-जाति आज दो स्पष्ट वर्गों में बँटी हुई है। एक वर्ग के लोग भूखों मरते हैं, दूसरे वर्ग के लोग केवल खाने ही के लिए जीते हैं। पर सच्ची तृप्ति, सच्चा आनन्द, न पहले के पास है न दूसरे के पास—न होरी के जीवन में सुख है, न रायसाहब अमरपाल सिंह के जीवन में संतोष! 'गोदान' इन्हीं दो विपरीत वर्गों में बँटी हुई नर-नारियों के बाह्य जीवन की विभिन्न दशाओं और दिशाओं पर प्रकाश डालता है, उनके अन्त-र्जीवन की अनेक रूपात्मक मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों का एक मार्मिक और मनोरंजक विश्लेषण है। इसमें भी ग्राम्य तत्त्वों की प्रधानता अपना सम्पूर्ण सौन्दर्य लेकर आई है और आकर अपनी जगह पर जम गई है। प्रसंगों की विविधता भी वैसी ही अनुपम है जैसी इनके अन्य बड़े-बड़े उपन्यासों में। सैकड़ों कहानियों तथा इतने उपन्यासों की सृष्टि करने वाली इनकी अद्भुत कल्पना-शक्ति अभी आगे चल कर 'कला' के किन-किन नूतन रूपों का विधान करती, इसका अनुमान कर लेना सहज नहीं है।

इस पुस्तक का उद्देश्य

और, ऐसे अनिर्णयात्मक अनुमानों की कोई आवश्यकता भी नहीं दीखती। हाँ, इसकी आवश्यकता है कि इनकी रचनाओं पर समीक्षा की एक निर्मल दृष्टि दौड़ाई जाय, स्वतंत्र बुद्धि से उन पर कुछ विचार किया जाय। यह छोटी-सी पुस्तक इसी आवश्यकता की थोड़ी-सी पूर्त्ति का प्रयत्न किया चाहती है। इसमें सिर्फ इनके उपन्यासों की ही चर्चा रहेगी; अगले प्रकरणों में हम केवल इनकी उपन्यास-कला के ही तत्त्वों का विश्लेषण करेंगे।

वस्तु-विन्यास

प्रेमचन्दजी की उपन्यास-कला के प्रथम तत्त्व वस्तु-विन्यास के सम्बन्ध में विचार प्रारम्भ करते ही हमारी दृष्टि इनके उपन्यासों की कथा-सामग्री पर जा

कथा-सामग्री

पड़ती है। इसके लिए इनका क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। चारों ओर ज्ञान और अनुभव की आँखें दौड़ाकर, अपनी कला का निर्माण करने के लिए, ये जो उपकरण एकत्र करते हैं उनके साथ हमारा पूरा परिचय रहता है। यही कारण है कि इनकी कथा-वस्तु हमारी उत्सुकता में किसी प्रकार का नूतन

आवेग नहीं ला सकती; बहुत ही शांत और सरल गति से वह हमारे अनुमान के साथ चली चलती है—कहीं किसी प्रकार के रहस्य-जाल में हमें उलझा नहीं रखती। सुप्रसिद्ध बंगाली उपन्यास-लेखक शरच्चन्द्र और इनमें यही भेद है। शरत् बाबू के किसी उपन्यास को पढ़ते समय बीच ही में यह अनुमान कर लेना असंभव-सा है कि कहानी कब--कहाँ--कैसे मुड़ जायगी और उसका अंत कैसे किया जायगा। एक घटना के बाद दूसरी घटना का आगमन इस आश्चर्यपूर्ण ढंग से होता है कि पहले ही से उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार की निश्चयात्मक कल्पना पाठकों के मन में उत्पन्न हो ही नहीं सकती। वस्तु-विन्यास के इसी अनुपम कौशल के कारण हमारी दृष्टि में वे औपन्यासिक जादूगर हैं। प्रेमचन्दजी में यह जादू नहीं है। ये अपने पाठकों को इस प्रकार के औत्सुक्यपूर्ण असमंजस में डालकर रख ही नहीं सकते। इनके पात्रों की जीवन-स्थिति का, उनके मनोभावों तथा कार्यों का, प्रारंभिक विश्लेषण ही हमें बता देता है कि घटना का अन्त किस प्रकार, किस रूप में, होनेवाला है। 'अब इसके आगे क्या होगा' इसका संकेत हमें इनके उपन्यासों में बराबर मिलता चलता है; घटना-चक्र के दो--हीं चार चक्करों के बाद

परिणाम के रूप का आभास मिल जाता है। पहले तो कथानक का स्वरूप ही ऐसा होता है कि उसका 'आदि' और 'मध्य' देखते ही उसके 'अंत' का अनुमान कर लेने में हमें किसी प्रकार का असमंजस नहीं होता; और, दूसरे, जब इन्हें किसी घटना विशेष का निर्माण करना होता है तो उसके पहले ही ये उस घटना से सम्बन्ध रखनेवाले पात्रों के हृदय में उसकी संभावना की आशंका उत्पन्न कर देते हैं। यह संभावना की आशंका कभी तो पात्रों के अन्तस्तल की उद्विग्नता में पैठकर बोलती है, कभी उनके स्वप्न बनकर। ('कायाकल्प' के १७१ वें पृष्ठ पर) जब हम देखते हैं कि राजा विशाल सिंह उत्सव का आयोजन कर रहे हैं किन्तु " किसी अनिष्ट की आशंका उन्हें हरदम उद्विग्न रखती " है तो हमें यह अनुमान करते देर नहीं लगती कि अब कोई-न-कोई दुर्घटना होने ही वाली है। हमारा अनुमान सच निकलता है; (१७३ वें पृष्ठ पर पहुँचते ही) " सहसा मजदूरों के बाड़े से रोने-चिल्लाने की आवाजें" आने लगती हैं—अनिष्ट का सूत्रपात हो जाता है! ('निर्मला' नामक उपन्यास के ७ वें ही पृष्ठ में) अपने विवाह की बात सुनते ही जब 'निर्मला' के " हृदय में एक विचित्र शंका समा जाती है, उसके " रोम-रोम में एक अज्ञात भय का

संचार" हो जाता है कि "न जाने क्या होगा !" उसी समय हमें उसकी "चिन्तायें और भीरु कल्पनायें" यह बता देती हैं कि बालिका का भविष्य उज्जवल नहीं है। फिर, जब वह सपने मे देखती है कि जिस नाव पर चढ़कर वह नदी पार कर रही है वह "नीचे से खिसक जाती है और उसके पैर उखड जाते हैं" ('निर्मला'—पृ० १७) तब तो उसके भावी जीवन का बोलता हुआ चित्र हमारी आँखों के सामने आ जाता है। जिस स्थिति में पहुँचाकर ये इस प्रकार के संकेतों से पाठकों का अनुमान बढ़ाते हैं वह आनेवाली घटनाओं की परिज्ञापिका होती है। 'मनोरमा' के मुख से यह सुनकर कि "अगर मै जगदीशपुर की रानी होती तो आपको बिना माँगे ही बहुत-सा धन देती"—और 'चक्रधर' के मुँह से यह कि "अच्छा, कभी याद दिलाऊँगा"—हमारे मन मे सहसा यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि 'आगे चलकर मनोरमा सचमुच जगदीशपुर की रानी होगी क्या ?' और वस्तुतः होता भी वही है ('कायाकल्प'—पृ० ३३) । गाय अभी द्वार तक पहुँच भी नहीं पाई थी कि होरी के "मन की बड़ी भारी लालसा पूरी हो गई" किन्तु "धनिया अपने हार्दिक उल्लास को दबाये रखना चाहती थी।" क्यों ? इसलिए कि "इतनी बड़ी सम्पदा अपने साथ कोई नई बाधा

न लाये, यह शंका उसके निराश हृदय में कंपन डाल रही थी।" और इसीलिए "मानो वह भगवान को भी धोखा देना चाहती थी। भगवान को भी दिखाना चाहती थी कि इस गाय के आने से उसे इतना आनन्द नहीं हुआ कि ईर्ष्यालु भगवान सुख का पलरा ऊँचा करने के लिए कोई नई विपत्ति भेज दें ('गोदान'—पृ० ५४)।" होरी की इस लालसा-पूर्त्ति में जिस अपूर्व आनन्द की ज्योति जगमगा रही थी उसे वह छिपा कर नहीं रख सकता था, लोक-चक्षु के मार्ग पर बिखेर देना चाहता था। अतएव, स्वभावतः, हर्षातिरेक के कारण, वह "आपे में नहीं था।" वह अपनी उस "सजीव सम्पत्ति" से "अपने द्वार की शोभा और अपने घर का गौरव बढ़ाना चाहता था" और सोचता था कि गाय "आँगन मे बँधी तो कौन देखेगा?" लेकिन "धनिया इसके विपरीत सशंक थी। वह गाय को सात परदों के अन्दर छिपा कर रखना चाहती थी ('गोदान'—पृ० ५५)।" एक ओर होरी के हुलास की यह झूमती हुई चाँदनी और दूसरी ओर धनिया की आशंका का यह काँपता हुआ अन्धकार—दोनों ही भावी संकट के संकेतों से परिपूर्ण हैं। सुख और आनन्द की अमरता के ज्ञान-शून्य विश्वास में भी दुख और शोक की अवस्थिति है—ठीक उसी तरह, जिस

तरह उनकी अस्थिरता की भय-भरी आशंका में आपत्ति और विपत्ति की। थोड़ी ही दूर आगे चलकर स्वयं होरी को पता चल जाता है कि उसका विश्वास झूठा था, धनिया की आशंका सच्ची थी। पर कब? जब "चिराग लेकर देखा, सुन्दरिया के मुँह से फिचकुर निकल रहा था. आँखें पथरा गईं थीं, पेट फूल गया था और चारों पाँव फैल गये थे ('गोदान'—पृ० १६५)।" गाय थोड़े ही दिनों में मर जाती है और "ईर्ष्यालु भगवान" धनिया के "सुख का पलरा ऊँचा करने के लिए नई विपत्ति" भेज कर ही दम लेते हैं। पाठकों को इस अनिष्ट के आगमन का संकेत इसके पहले ही मिल जाता है—होरी के हर्षातिरेक और धनिया के आशंकाधिक्य से ही नहीं, दातादीन की उन "रहस्य भरे स्वर में" बोली गई बातों से भी कि गाय को "बाहर न बाँधना, इतना कहे देते हैं ('गोदान'—पृ० ५७)।"

ये केवल पारिवारिक जीवन का चित्र या किसी सम्प्रदाय विशेष की दुरवस्थाओं का वर्णन उपस्थित करके ही अपना काम पूरा नहीं कर लेते; अपने विस्तृत समाज और विशाल राष्ट्र की व्यापक एवं गंभीर समस्याओं पर पूरा-पूरा प्रकाश डालते हुए, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में विभक्त सांसारिक जीवन की विशद व्याख्या करना भी

इनका उद्देश्य रहता है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ये जीवन-व्यापार के प्रायः सभी क्षेत्रों से कथा-सामग्री का संचय किया करते हैं। किसान, जमींदार, राजा, रंक, साधु, चोर, पुलिस, हाकिम, वकील, विद्यार्थी, अध्यापक, राजनीतिज्ञ, धर्मनीतिज्ञ, सुधारक, प्रचारक, देश-सेवक, पंडे, गुंडे आदि सभी प्रकार के लोगों की जीवन-घटना के रंग-बिरंगे चित्र खींचकर ये हमारे लिए मनोवैज्ञानिक अध्ययन की भरी-पूरी सामग्री तो प्रस्तुत करते ही हैं, साथ ही, इस बात का भी ध्यान रखते हैं कि इनकी इस सामग्री से हमें अपने जीवन को उत्साहपूर्ण, उद्योगी, सुदृढ़ और शिक्षामय बनाने की सुविधाएँ प्राप्त हों। इनके उपन्यासों की यह वस्तु-विविधता सचमुच बेजोड़ है।

ये उच्चकोटि के व्यावहारिक आदर्शवादी हैं। यही कारण है कि अपने उपन्यासों की कथा-सामग्री एकत्र करते समय ये वास्तविकता की उपेक्षा नहीं करते। किन्तु, साथ ही, इस बात का भी ध्यान रखते हैं कि इनकी वास्तविकता किसी प्रकार की नग्न अश्लीलता का पर्याय न बन जाय। मानव-जगत की मलिन से मलिन वास्तविकता की ओर संकेत करते समय भी ये श्लीलता और शिष्टता के उपकरणों से ही काम लेते हैं। 'सेवासदन' वाली

'सुमन' को वेश्यालय में बैठाकर भी ये उसके अश्लील एवं अवाञ्छनीय व्यापारों का वर्णन नहीं करते। 'कर्मभूमि' की 'मुन्नी' के सतीत्व-अपहरण की बात ये उसकी एक 'चीत्कार' से ही हमें बता देते हैं। इनके उपन्यासों में जहाँ कहीं भी किसी प्रकार का दुखद और लज्जाजनक प्रसंग आया है वहाँ इन्होंने अपने कलात्मक संयम से, अपनी स्वाभाविक सुरुचि से, पूरा काम लिया है। इसमें सन्देह नहीं कि इन्होंने 'स्वर्ग' भी बनाये हैं और 'नरक' भी—अच्छी घटनाओं का भी वर्णन किया है और बुरी घटनाओं का भी। किन्तु, इनका 'नरक' देखकर हृदय में कुत्सित लालसाओं का, अवाञ्छनीय इच्छाओं का, उदय नहीं होता। हाँ, 'स्वर्ग' देखकर उसे अपनाने की अभिलाषा अवश्य होती है। 'सेवासदन' में जिस 'दालमंडी' का चित्र अंकित किया गया है वहाँ पहुँचकर भी 'सदन सिंह' पाप का शिकार नहीं, प्रेम का पुजारी ही बनता है और उसकी वही प्रेम-भावना, आगे चलकर, उसके द्वारा 'शान्ता' का उद्धार कराने में समर्थ होती है। 'कायाकल्प' वाली 'लौंगी' ठाकुर हरिसेवक सिंह की रखेली है, किन्तु, जब कभी वह हमारे सामने आती है, हम उसे 'मनोरमा' की माँ होने के अतिरिक्त और कुछ समझ ही नहीं सकते।

उसके शील-स्वभाव की सुंदरता के आगे उस उपन्यास का और कोई पात्र ठहरता ही नहीं। सारांश यह कि अपावन प्रसंगों का संकेत करते समय भी प्रेमचन्दजी पावन भावनाओं की अभिव्यक्ति करते चलते हैं। पाप की थोड़ी-सी श्यामल छाया दिखलाकर ये तुरन्त ही उसे पुण्य के उज्ज्वल प्रकाश से भर देते हैं। इसी कारण इनकी रचनाओं में जो कुछ 'असुन्दर' है वह सदैव आकर्षण-शून्य, प्रभाव-हीन, अशक्त और निष्क्रिय बनकर पड़ा रहता है और जो कुछ 'सुन्दर' है वह हमारी आशाओं तथा अभिलाषाओं के आवेग को परिष्कृत कर हमें अपने पास बुला लेता है। 'ज्ञानशंकर' ज्योंही 'गायत्री' को उठाकर छाती से लगा लेता है त्योंही अकस्मात् कमरे का द्वार धीरे-से खुलता है और 'विद्या' उनके सामने जाकर खड़ी हो जाती है ('प्रेमाश्रम' — पृ० ४६८)। हम, उन दोनों की कुचेष्टा से प्रभावित न होकर केवल 'विद्या' के ही प्रभाव में आ जाते हैं — कमरे का ही नहीं, पाठकों के हृदय का भी समस्त वातावरण उसी की सतीत्व की उज्ज्वलता से जगमगा उठता है। 'असुन्दर' का आश्रय ये वहीं तक ग्रहण करते हैं जहाँ तक वह इनके 'सुन्दर' को प्रभावशाली बनाने में सहायक सिद्ध होता है।

अपनी इसी मंगलमयी कलात्मक प्रवृत्ति से प्रेरित होकर ये कथा-सामग्री का संचय करते हैं, और, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, इस काम के लिए इनकी आँखे चारों ओर दौड़ती रहती हैं। 'सेवासदन' की कथा-सामग्री समाज की रूढ़िग्रस्त दुर्बलताओं तथा दुरवस्थाओं से सम्बन्ध रखती है। दहेज की कुप्रथा के कारण किन-किन दारुण अनर्थों की सृष्टि होती है, सुधारकों के पारस्परिक वैमनस्य और चारित्रिक दौर्बल्य से समाज का कितना बड़ा अमंगल होता है, समाज की आश्रयहीन एवं पतित बहनों के जीवन-सुधार की योजना किस प्रकार काम में लाई जानी चाहिए, परम्परागत पापों को पराजित करने के लिए किस प्रकार के प्रेम और त्याग की आवश्यकता पडती है आदि बातों का ही उल्लेख इस उपन्यास में किया गया है। 'प्रेमाश्रम' में कथा-सामग्री का क्षेत्र कुछ बढ़ गया है। इसमें किसानों और जमींदारों के अधिकार-युद्ध का तो विशद वर्णन है ही, इसके अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार की बातें आ गई हैं जो मानव-जीवन के भिन्न-भिन्न व्यापारों से सम्बन्ध रखती हैं। प्रेम, घृणा, स्वार्थ, त्याग, सुख, दुख आदि के भाव अभिव्यक्त करने वाली घटनाओं का सन्निवेश करके इसमें यह भी दिखलाया

गया है कि इस प्रकार की घटनाओं से जीवन में कैसे-कैसे परिवर्त्तन उपस्थित हुआ करते हैं। 'रंगभूमि' का क्षेत्र इससे भी बढ़ गया है। इसमें हिन्दू-मुसलमान के अतिरिक्त ईसाई भी आ गये हैं। कथा-सामग्री में राजनीतिक आन्दोलन के उपकरण भी सम्मिलित हो गये हैं। इसमें किसान भी हैं, ज़मींदार भी; भिखारी भी हैं, भगवान भी; पंडे भी हैं, गुंडे भी; स्वदेश-सेवक भी हैं और स्वार्थ-साधक भी। 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' में स्त्रियों की ओर से उनकी अपनी कर्त्तव्य-चेष्टा का खुला हुआ सौन्दर्य्य नहीं दिखलाया गया है, पर, 'रंगभूमि' में जाह्नवी, इन्दु और सोफिया इस ओज के साथ आ उतरी हैं कि 'सूर' और 'विनय' की वीरता भी उसके आगे अपने आपको बढ़कर समझते झिझकती-सी दीख पड़ती है। इसमें नाना प्रकार के लोग आये हैं और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली नाना प्रकार की घटनाएँ घटित हुई हैं। और, इन सभी प्रकार की घटनाओं का सूत्र 'सूरदास' की जीवन-घटना के साथ बँधा हुआ है। इसलिए, कथा-वस्तु का मुख्य रूप हो गया है 'सत्याग्रह-संग्राम' और उसमें निष्काम भाव से जूझनेवाले कर्मवीरों की आध्यात्मिक विजय। 'कर्मभूमि' की कथा-सामग्री भी कुछ इसी प्रकार की है। अन्तर

इतना ही है कि अपने इस उपन्यास में प्रेमचन्द्जी ने अछूतोद्धार-द्वारा राष्ट्र-निर्माण के प्रश्न पर मुख्य रूप से प्रकाश डालने की चेष्टा की है और यह दिखलाया है कि जब तक इस उत्पीड़ित मानव-समुदाय के नैतिक, बौद्धिक और आर्थिक सुधार की ओर ध्यान न दिया जायगा तब तक हम अपने राष्ट्र की वास्तविक उन्नति कर नहीं सकते। सामयिक घटना-चित्रों से उपन्यास भरा हुआ है। 'कायाकल्प' में साम्प्रदायिक झगड़े का—हिन्दू-मुसलमान की लड़ाई का—भी वर्णन है और किसान-आन्दोलन के रूप में थोड़े से राजनीतिक झमेले भी खड़े कर दिये गये हैं। किन्तु, इसमें आध्यात्मिक रहस्यों की ही प्रधानता दीख पड़ती है। रानी 'देवप्रिया' और उसके 'प्रियतम' के बार-बार जन्म-ग्रहण करने और मर जाने की कहानी विलक्षण है। इसी मुख्य घटना के साथ-साथ और-और प्रकार की घटनाएँ भी लिपटी हुई हैं। 'ग़बन' में पुलिस के हथकंडों का जीता-जागता चित्र खींचा गया है। 'रमानाथ' को पकड़कर पुलिस के लोग उससे कैसे-कैसे अवाञ्छनीय कार्य कराया चाहते हैं, इसका अत्यन्त रोमांचकारी वर्णन इस उपन्यास में किया गया है। किन्तु, यही कहानी का आधार नहीं है। मुख्य कथा-सामग्री तो 'रमानाथ' और उसकी

धर्मपत्नी 'जालपा' की जीवन-घटना से सम्बन्ध रखती है। एक का मिथ्या-वैभव प्रदर्शन और दूसरे का अत्यधिक आभूषण-प्रेम मिलकर जिस अनर्थ की सृष्टि करता है उसी की विशद व्याख्या करना ही इस उपन्यास का प्रधान उद्देश्य है। 'वरदान' की कथा-सामग्री एक विधवा और उसके एकलौते बेटे की जीवन-घटना से ली गई है। 'सुवामा' एक देशभक्त पुत्र की कामना करती है और देवी के आशीर्वाद से 'प्रताप' के रूप में उसे पाती भी है। 'विरजन' के साथ 'प्रताप' का प्रेम होता है। पर, स्वदेश-सेवा के लिए, अन्त में 'विरजन' को छोड़कर वह वैरागी बन जाता है। इसी छोटी-सी घटना को लेकर कहानी चली है। पुरुष की कठोर कर्त्तव्य-साधना और नारी-हृदय की उद्दीप्त प्रणय-वेदना के मार्मिक एवं मधुर द्वन्द्वों का इसमें बड़ा ही हृदयग्राही विश्लेषण किया गया है। 'निर्मला' और 'प्रतिज्ञा' में केवल शुद्ध सामाजिक प्रश्नों पर ही विचार किया गया है। एक में वृद्ध विधुर-विवाह के दुष्परिणाम दिखलाये गये हैं, दूसरे में विधवाओं के प्रति कर्त्तव्य-पालन करने का आदर्श निरूपित किया गया है। दोनों ही उपन्यास हमारे समाज के लिए दर्पण का काम करते हैं। 'गोदान' में सम्पन्न और सुशिक्षित नागरिक जीवन का तथा

विपन्न और अशिक्षित ग्राम्य जीवन का तुलनात्मक विवेचन किया गया है, दो अलग अलग बसी हुई दुनिया की रंगीन तस्वीरें खींची गई हैं। इसमें भी जमींदार हैं, पूँजीपति हैं, बुद्धिजीवी हैं, श्रमजीवी हैं, सब हैं। सब के जीवन प्रवाह में गति है, उद्वेग है. स्वच्छन्दता भी है और बाधा भी। किन्तु स्थिरता शायद किसी में नहीं है। महलों में सोने वाले भी भीतर से वैसे ही हैं जैसे झोपड़ियों में रोने वाले! मानव-जीवन की असफलताएँ और निराशाएँ इसमें चरम सीमा तक पहुँची हुई दिखाई गई हैं। सारांश यह कि प्रेमचन्द जी के उपन्यासों की कथा-सामग्री हमारी पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक सभी प्रकार की घटनाओं और परिस्थितियों से सम्बन्ध रखती है और हमारे जीवन-व्यापार के प्रत्येक अंग को स्पर्श करती चलती है।

किन्तु, कथा–सामग्री के संचय मात्र से ही उपन्यास–कला के आग्रह की परितुष्टि नहीं हो जाती। वह यह भी चाहती है कि कलाकार अपनी संचित सामग्री का अच्छे ढंग से उपयोग करे। अच्छे ढंग से उपयोग करने का तात्पर्य यह कि वह उन्हीं बातों को अपने उपन्यास का मुख्य आधार बनावे जो मनुष्य मात्र के जीवन-संग्राम से सम्बन्ध रखती

कथा-सामग्री का उपयोग

ने यही दिखलाने की चेष्टा की है कि उन दोनों बालकों की जीवन-घटना देखकर 'मायाशंकर' के हृदय में अर्थ-वैराग्य की भावनाओं का प्रादुर्भाव हुआ, ऐश्वर्य की संहारिणी-शक्ति का बोध हुआ, और इसी से धन-धरती की माया से मुक्त होकर उसने लोक-सेवा का मार्ग ग्रहण किया। इस सम्बन्ध में 'प्रेमशंकर' अपने भाई 'ज्ञानशंकर' से कहते हैं—"तेजू और पद्मू का बलिदान 'माया' के गोद लिये जाने ही के कारण हुआ। 'माया' को अचानक इस रूप में देखकर उनको वृद्धि प्राप्त करने की प्रेरणा हुई (प्रेमाश्रम'—पृ० ६२०)।" स्वयं 'मायाशंकर' भी अपनी चाची 'श्रद्धा' से रोकर कहता है "तेजू और पद्मू के प्राण मैंने लिये और अब बाबा की भी कुछ मदद नहीं कर सकता। ऐसे जीने पर धिक्कार है ('प्रेमाश्रम '—पृ० ६२८)।" यह सब सही। किन्तु प्रश्न तो यह है कि उन दो बालकों के बिना उपन्यास के घटना-सौन्दर्य्य में कौन-सी कमी पड़ जाती। क्या 'मायाशंकर' स्वभाव ही से अर्थ-विरागी नहीं था? जिसके रंग-ढंग देख कर 'गायत्री' कहती है "मेरी समझ में तो यह पूर्व जन्म में कोई संन्यासी रहे होंगे ('प्रेमाश्रम'—पृ० ४१५) उसी की वैराग्य-प्रवृत्ति प्रकट करने के लिये उन दो बालकों की—और विशेषकर उनके आत्म-हनन की—तो कोई

आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, होनी ही नहीं चाहिए। 'प्रेमाश्रम' में 'ईजाद हुसेन' भी किसी महत्त्व की सृष्टि या रक्षा करनेवाला पात्र नहीं प्रतीत होता। उसके 'यतीमखाने के स्वांग' वर्णन में व्यर्थ ही उपन्यास के कई पृष्ठ काले किये गये हैं। उसके चरित्र से सम्बन्ध रखनेवाली कथा-सामग्री न तो किसी प्रकार का आकर्षण रखती है, न किसी कलात्मक अभाव की पूर्ति करनेवाली है। इसी तरह, 'गोदान' के डॉक्टर मेहता से "वीमेंस लीग" में जो एक लम्बा-सा भाषण दिलवाया गया है ('गोदान'—पृ० २५३-२६२) वह भी उपन्यास कला के किसी स्वाभाविक सौंदर्य से सम्बन्ध नहीं रखता और 'बिजली'-संपादक (पं० ओंकारनाथ) के शब्दों में हमें "कोई नई बात नहीं" बताता।

कथा-सामग्री का उपयोग करते समय कहीं-कहीं जो ये कलात्मक संयम से काम लेने में चूक जाते हैं इसका प्रधान कारण है इनकी अद्भुत वर्णना-शक्ति। कल्पना के विस्तृत प्राङ्गणमें पहुँचते ही इनकी यह शक्ति बहुत अधिक उत्तेजित हो उठती है। अपनी इस उत्तेजना को ये दबा नहीं सकते—इसे दबा रखनेवाली स्थायी क्षमता का इनमें अभाव-सा है। यही कारण है कि इनके उपन्यास प्रायः बड़े-बड़े होते हैं और जगह-जगह पर कथा सामग्री की

उपयोग-प्रणाली में इनसे भूलें भी हो जाया करती हैं। शरत् बाबू वाली 'थोड़े ही में बहुत' कह देने की कला ये जानते ही नहीं—जानते भी हों तो उससे पूरा काम नहीं लेते। इसीसे कहीं-कहीं वर्णन अतिरंजित और अरुचिकर हो जाता है। 'कर्मभूमि' वाला 'अमर' जब महंत 'आशाराम गिरि' के मंदिर में प्रवेश करता है तो देखता क्या है कि "× × × बरामदे के पीछे, कमरों में खाद्य-सामग्री भरी हुई थी। ऐसा मालूम होता था, अनाज, शाक-भाजी मेवे, फल, मिठाई की मंडियाँ हैं। एक पूरा कमरा तो केवल परवलों से भरा हुआ था। इस मौसम में परवल कितने महँगे होते हैं; पर यहाँ वह भूसे की तरह भरा हुआ था। ××× इस मौसम में यहाँ बीसों झावे अंगूर के भरे थे।" 'अमर' दूसरी तरफ गया तो देखा "एक लम्बी कतार दरजियों की थी ×××, एक क़तार सोनारों की थी ×××, एक पूरा कमरा इत्र और तेल और अगर बत्तियों से भरा हुआ था।" अच्छा, अब वह पशुशाला की ओर मुड़ता है तो क्या देखता है कि "कोई पचीस-तीस हाथी आँगन में बँधे थे, कोई इतना बड़ा कि पूरा पहाड़, कोई इतना छोटा, जैसे भैंस। ××× पाँच सौ घोड़ों से कम न थे, हरेक जाति के, हरेक देश के।

× × × चार, पाँच सौ गायें-भैंसें थीं, क्योंकि ठाकुर जी के स्नान के लिए प्रतिदिन तीन बार पाँच-पाँच मन दूध की आवश्यकता पड़ती थी, भंडार के लिए अलग—('कर्मभूमि'-पृ० ४०४, ४०५, ४०६) ।"

अपनी वर्णना-शक्ति के इस आवेग में पड़कर कभी-कभी ये असावधान भी हो जाते हैं । जैसे, पहले तो ये हमें बताते हैं कि "सुमन उस समय भोली बाई के कोठे पर बैठी हुई बातें कर रही थी ('सेवासदन'—पृ० २६) ।" और उसके बाद कहते हैं कि "भोली बाई का कमरा देखकर सुमन की आँखें खुल गईं । एक बार वह पहले भी आई थी, पर नीचे के आँगन ही से लौट गई थी ('सेवासदन'—पृ० ५४)।" 'कर्मभूमि' वाली 'बुढ़िया पठानिन' पहले तो अमरकान्त से कहती है "गाय घाट पर रहती हूँ बेटा ! × × × सब हैं भैया, बेटे हैं, पोते हैं, बहुएँ हैं, पोतों की बहुएँ हैं । नहीं लेते मेरी सुध, न सही । हैं तो अपने । मर जाऊँगी तो मिट्टी तो ठिकाने लगा देंगे ('कर्मभूमि'—पृ० ४७) ।" लेकिन थोड़ी ही देर बाद उसके मकान का पता लगता है जाकर 'गोबरधन सराय' में और वह 'अमर' से कहती है "बेटा, अब तो दो ही आदमी हैं, नहीं, इसी घर में एक पूरा कुनबा रहता था । मेरे दो बेटे, दो बहुएँ, उनके दो

बच्चे, सब इसी घर में रहते थे। इसी में सबों के शादी-ब्याह हुए और इसी में सब मर भी गये। × × × अब मैं हूँ और मेरी यह पोती (सकीना) है। और सबको अल्लाह ने बुला लिया ('कर्मभूमि'—पृ० ५१)।"

इसी तरह की एक असावधानी और देखिये। 'मुन्नी' जब रिहाई पाकर चली तो उसके पास कोई सामान नहीं था। मानसिक उद्वेग और सब प्रकार के अभावों से भरी हुई दरिद्रता ही लेकर वह काशी से चलती है। किन्तु, जब वह लखनऊ के स्टेशन पर पहुँचती है, और फिर से काशी लौट आने की बात सोचने लगती है, तो कुली उससे पूछता है "असबाब जनाने डब्बे में रख दूँ कि मरदाने में?" मुन्नी के मुँह से "मैं इस गाड़ी से न जाऊँगी" सुनकर वह फिर पूछता है "तो असबाब बाहर ले चलूँ, या मुसाफिर-खाने में?" 'मुन्नी' कहती है "मुसाफिर-खाने में। (कर्मभूमि, पृ० २४०)।" प्रश्न यह उठता है कि उस बेचारी के पास उतना सामान आ कहाँ से गया! इस सम्बन्ध का कोई संकेत इसके पहले कहीं नहीं दिया गया है। इस प्रकार के संकेतों की आवश्यकता अगर नहीं थी तो स्टेशन पर यह 'मुन्नी-कुली-संवाद' भी सर्वथा निष्प्रयोजन समझा जाना चाहिए। यहाँ इस ऊपरी अभाव से थोड़ा-सा

छुटकारा पाकर, अपने साथ असबाब रखकर, मुन्नी कुछ बढ़ नहीं गई है—घट ही गई है।

बीच-बीच में इस तरह की छोटी-मोटी कलात्मक त्रुटियाँ उपस्थित करनेवाली इनकी वर्णना-शक्ति इतने वेग से क्यों चलती है? बात असल यह है कि जो जितना ही अधिक देख सकता है उसकी बताने की शक्ति भी उतनी ही अधिक पुष्ट और प्रगतिशील होती है। प्रेमचन्दजी की पर्य्यवेक्षण-शक्ति बहुत ही बढ़ी-चढ़ी है। इनकी ज्ञान, विवेक और अनुभव की आँखें सदैव खुली ही नहीं रहतीं चारों ओर दौड़ती भी रहती हैं। अपने समय के भारतीय औपन्यासिकों में यही एक ऐसे सर्वदर्शी कलाकार हैं जो अपने सामाजिक और राष्ट्रीय वातावरण के समस्त उपकरणों को बराबर उलट-पलटकर देखते रहते हैं और उस वातरण में पलनेवाले मानव-स्वभाव के एक-एक अंग को खूब अच्छी तरह पहचानते हैं। इसी लिए इनके पास वर्णन-सामग्री की कभी कमी नहीं रहती। इनकी पर्य्यवेक्षण-शक्ति की यह सम्पन्नता, दृष्टि की यह सूक्ष्मता, कहीं-कहीं लोक-स्वभाव के अत्यंन्त सुन्दर चित्र अङ्कित करती चलती है। 'निर्मला' नामक उपन्यास में 'कल्याणी' कहती है "जब से ब्रह्मा ने सृष्टि रची तब से और आज

पर्य्यवेक्षण-शक्ति

तक कभी बरातियों को कोई प्रसन्न नहीं कर सका। × × × जिसे अपने घर सूखी रोटियां भी मयस्सर नहीं वह भी बरात में जाकर 'नानाशाह' बन बैठता है। तेल खुशबूदार नहीं, साबुन टके सेर, कहार बात नहीं सुनते, लालटेनें धुआँ देती हैं, कुरसियों में खटमल हैं, चारपाइयाँ ढीली हैं। जनवासे की जगह हवादार नहीं। ऐसी-ऐसी हज़ारों शिकायतें होती रहती हैं। अगर यह मौका न मिला तो और ऐब निकाल लिए जायँगे—भई, यह तेल तो रंडियों के लगाने लायक है, हमें तो सादा तेल चाहिये। जनाब, यह साबुन नहीं भेजा है, अपनी अमीरी की शान दिखलाई है। ये कहार नहीं, यमदूत हैं, जब देखिये सिर पर सवार। लालटेनें ऐसी भेजी हैं कि आँखें चमकने लगती हैं, अगर दस-पाँच दिन ऐसी रोशनी में बैठना पड़े तो आँखें फूट जायँ! जनवासा क्या है अभागे का भाग्य है, जिसपर चारों तरफ़ से झोंके आते रहते हैं × × × ('निर्मला'—पृ० १५)।" बरातियों की मनोवृत्ति का कितना बढ़िया विश्लेषण है!

ग्रामीण-जीवन का तो शायद ही कोई ऐसा चित्र हो जिस पर इनकी दृष्टि न पड़ी हो और जिसे इन्होंने अपनी रचनाओं में अंकित न किया हो। ग्राम्य-तत्त्वों की प्रधानता

ही इनके उपन्यासों की सबसे बड़ी शोभा और विशेषता है। इस बात में ये अङ्गरेजी के प्रसिद्ध औपन्यासिक टॉमस हार्डी से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। गाँव के गरीब किसानों और मजदूरों की प्रकृति तथा परिस्थिति का इन्होंने पूर्ण पर्य्यवेक्षण और अध्ययन किया है, उनके वातावरण के एक-एक तत्त्व को इन्होंने हृदयंगम कर लिया है। यही कारण है कि उनके सम्बन्ध में ये जो कुछ कहते हैं, वह बहुत ही सुन्दर और स्वाभाविक होता है। देखिये—"संध्या हो गई है। दिन भर के थके-माँदे बैल खेतों से आ गये हैं। घरों से धुएँ के काले बादल उठने लगे हैं। × × × गाँव के नेता गण × × × अलाव के पास बैठे हुए नारियल पी रहे हैं और हाकिमों के चरित्र पर अपना-अपना मत प्रकट कर रहे है ('प्रेमाश्रम'—पृ० १)।"

"बजरंगी खाट पर बैठा नारियल पी रहा था। उसकी स्त्री जमुनी खाना पकाती थी। आँगन में तीन भैंसें और चार-पाँच गाएँ चरनी पर बँधी हुई चारा खा रही थीं ('रंगभूमि'—पृ० १८)।"

"शाम हो गई है, गायें-भैंसें हार से लौटीं। जग्गो ने उन्हें खूँटे से बाँधा और थोड़ा-थोड़ा भूसा लाकर उनके सामने डाल दिया। इतने में देवी और गोपी भी बैलगाड़ी

पर डाँठ लादे हुए आ पहुँचे। दयानाथ ने बरगद के नीचे ज़मीन साफ़ कर रक्खी है। वहीं डाठें उतारी गईं ('ग़बन'—पृ० 321)।"

अपने सांसारिक जीवन-क्षेत्र में हम जो कुछ देखते-सुनते हैं, प्रायः सब-के-सब. इनके उपन्यासों में अङ्कित पाते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है जैसे इनके दृष्टि-स्पर्श से कोई वस्तु अछूती बची ही नहीं—बच ही नहीं सकती। पर्य्यवेक्षण-शक्ति की सम्पन्नता ही इनकी सफलता की जननी है।

वर्णन की सम्पूर्णता और सजीवता

अपने इस अद्भुत दृष्टि-विस्तार के कारण, ये जीवन-घटना के रहस्यों और स्थिति की विशेषताओं का बहुत ही गहरा ज्ञान रखते हैं। इसीसे इनके उपन्यासों में वर्णन की सम्पूर्णता और सजीवता का अभाव नहीं रहता। रंक की झोपड़ी में भी इनकी दृष्टि का प्रवेश है और राजा के महलों में भी। देखिये, सूरदास की झोपड़ी में "न खाट न बिस्तर, न बरतन न भाँडे। एक कोने में एक मिट्टी का घड़ा था, जिसकी आयु का कुछ अनुमान उस पर जमी हुई काई से हो सकता था। चूल्हे के पास हाँड़ी थी। चलनी की भाँति छिद्रों से भरा हुआ एक तवा, और एक छोटी-सी कठौत, और एक लोटा।" अच्छा, अब उसकी

खाद्य-व्यवस्था देखिये, भीख में "जितना नाज पाया था, वह ज्यों-का-त्यों हाँड़ी में डाल दिया। कुछ जव था, कुछ गेहूँ, कुछ मटर, कुछ चने, थोड़ी-सी जुआर और मुट्ठी भर चावल। × × × हाँड़ी को चूल्हे पर चढ़ाकर वह घर से निकला, द्वार पर टट्टी लगाई, और सड़क पर जाकर एक बनिए की दूकान से थोड़ा-सा आटा और एक पैसे का गुड़ लाया। आटे को कठौती में गूँधा और तब आध घंटे तक चूल्हे के सामने खिचड़ी का मधुर आलाप सुनता रहा। हाँड़ी में कई बार उबाल आये, कई बार आग बुझी। चूल्हा फूँकते-फूँकते उसकी आँखों से पानी बहने लगता था। ('रंगभूमि'—पृ० १६, १७)।" दारिद्र्य-पूर्ण जीवन का कैसा सजीव चित्र है! किसानों की दुर्दशा का भी एक दृश्य देख लीजिए:—"द्वार पर मनों कूड़ा जमा है, दुर्गन्ध उड़ रही है; मगर उनकी नाक में न गन्ध है, न आँखों में ज्योति। सरे शाम से द्वार पर गीदड़ रोने लगते हैं; मगर किसी को गम नहीं। सामने जो कुछ मोटा-झोटा आ जाता है, वह खा लेते हैं, उसी तरह जैसे इंजिन कोयला खा लेता है। उनके बैल चूनी-चोकर के बगैर नाद में मुँह नहीं डालते; मगर उन्हें केवल पेट में कुछ डालने को चाहिये। स्वाद से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं।

उनकी रसना मर चुकी है। उनके जीवन में स्वाद का लोप हो गया है। उनसे धेले-धेले के लिए बेईमानी करवा लो, मुट्ठी-भर अनाज के लिए लाठियाँ चलवा लो। पतन की वह इन्तहा है, जब आदमी शर्म और इज़्ज़त को भी भूल जाता है ('गोदान'—पृ०५७३)। "

इसके विपरीत, दूसरी ओर 'रानी देवप्रिया' का केवल 'झूला-घर' ही देख लीजिये—"वह एक विशाल भवन था बहुत ऊँचा और इतना लम्बा-चौड़ा कि झूले पर बैठकर खूब पेंग ली जा सकती थी। रेशम की डोरियों में पड़ा हुआ एक पटरा छत से लटक रहा था, पर चित्रकारों ने ऐसी कारीगरी की थी कि मालूम होता था, किसी वृक्ष की डाल में पड़ा हुआ है। पौदों, झाड़ियों और लताओं ने उसे यमुना-तट का कुञ्ज-सा बना दिया था। कई हिरन और मोर इधर-उधर विचरा करते थे। × × × पानी का रिम-झिम बरसना, ऊपर से हलकी-हलकी फुहारों का पड़ना, हौज़ में जल-पक्षियों का क्रीड़ा करना, किसी उपवन की शोभा दरसाता था ('कायाकल्प'—पृ० ८५)।"

जिस किसी भी घटना या स्थिति का ये वर्णन करते हैं वह कभी अधूरा और निर्जीव हो ही नहीं सकता, क्योंकि ये केवल उसके बाह्य उपकरणों का ही विश्लेषण नहीं करते,

भीतरी तत्त्वों को भी खूब अच्छी तरह देखते-भालते हैं। दिन भर की भीख में माँगे पैसों को रखते हुए भिखारी का एक मनोवैज्ञानिक स्थिति-चित्र देखिये—"कमर से पैसों की छोटी-सी पोटली निकाली। तब झोपड़ी की छान में से टटोलकर एक थैली निकाली। उसमें पैसों की पोटली बहुत धीरे से रक्खी कि किसी के कानों में भनक भी न पड़े। फिर थैली को छान में छिपा दिया ('रंगभूमि'–पृ०१६)।"

जब हृदय किसी प्रकार के दारुण आघात से तिलमिला उठता है तब भक्ति, विश्वास और आत्म-गौरव की भावनाएँ किस तरह नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं, इसका अवलोकन कीजियेः—"तीस साल की भगती का तुमने मुझे यह बदला दिया है, मैं भी तुम्हें उसका बदला देता हूँ। यह कहकर भगत ने शालिग्राम की प्रतिमा को जोर से एक ओर फेंक दिया। × × × फिर दौड़े हुए घर में गये और पूजा की पिटारी लिये हुए बाहर निकले। मनोहर लपटा कि पिटारी उनके हाथ से छीन लूँ। लेकिन भगत ने उन्हें अपनी ओर आते देखकर बड़ी फुरती से पिटारी खोली और उसे हवा में उछाल दी, सभी सामग्रियाँ इधर-उधर फैल गईं। तीस वर्ष की धर्म-निष्ठा और आत्मिक श्रद्धा नष्ट हो गई! धार्मिक विश्वास की दीवार हिल

गई और उसकी ईंटें बिखर गईं ('प्रेमाश्रम'—पृ० २८६)।"

किन्तु, वर्णन को सम्पूर्ण और सजीव बनाने में कहीं-कहीं इन्होंने उसे अनावश्यक रूप से लम्बा भी बना दिया है। 'सेवासदन' में म्युनिसिपल-बोर्ड की बैठकों के विवरण, 'प्रेमाश्रम' में 'सनातन धर्म-मडल' के वार्षिकोत्सव तथा 'मायाशंकर' के तिलकोत्सव के लम्बे-लम्बे कार्य-विवरण, किसी भी कलात्मक अभिरुचि या तत्त्व से सम्बन्ध नहीं रखते। उन्हें पढ़ते-पढ़ते जी ऊब उठता है। औपन्यासिक विवरण समाचार-पत्र के विवरणों से सर्वथा भिन्न होने चाहिए, यह बात, वर्णन के वेग में पढ़ कर, प्रेमचन्दजी कभी-कभी भूल जाते हैं।

इसके साथ ही, इनके उपन्यासों में घटनाओं की पुनरावृत्ति भी होती है। 'सेवासदन' में 'सुमन' गंगा में डूबने जाती है, और फिर लौट आती है। 'कृष्णचन्द्र' डूबने जाते हैं और डूब जाते हैं। 'प्रेमाश्रम' में भी 'श्रद्धा' डूबने चलती है, 'प्रेमशंकर' उसे बचा कर लौटा लाते हैं। 'ज्ञानशंकर एक बार तो पानी से निकल आता है पर, दूसरी बार नदी में डूबकर ही सदा के लिए हृदय-दाह को शांत कर देता है। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर को चोट खानी पड़ती है, रंगभूमि' में 'विनय' घायल होता है, 'कायाकल्प' में

'चक्रधर' के कधे में संगीन घुसती है और 'कर्मभूमि' में 'शान्तिकुमार' घायल होते हैं—सब-के-सब एक ही-सी परिस्थिति में पड़ कर; जनता और जनता के ऊपर अत्याचार करने वालों के बीच में पड़कर। 'कर्मभूमि' में अंकित अदालत और अभियोग का स्थिति-चित्र प्राय: वैसा ही है जैसा कि 'ग़बन', 'कायाकल्प' और 'प्रेमाश्रम' में। जब कभी ये शासक और शासित का संघर्ष-चित्र उपस्थित करते हैं, इन्हें बन्दूकें, संगीनें और लाठियाँ चलानी ही पड़ती हैं। जहाँ इस प्रकारकी घटनाओं को ये प्रधानता नहीं भी देना चाहते वहाँ भी, जैसे आप ही आप, किसी न किसी रूप में, वे अवश्य आकर खड़ी हो जाती हैं।

घटनाओं का सम्बद्ध और स्वाभाविक विकास

किन्तु, घटनाएँ चाहे नई हों या पुरानी, परिचित हों या अपरिचित, इनके उपन्यासों में उनका विकास-क्रम सम्बद्ध और स्वाभाविक होता है। 'कायाकल्प' की घटना-सी असाधारण घटनाएँ भी ये इस ढंग और क्रम से रखते हैं कि वे असंगत और अस्वाभाविक नहीं जान पड़तीं, कुछ दूर तक अविश्वसनीय भले ही जान पड़ें। वे स्वयं ही एक दूसरी से निकलती चली जाती हैं और प्रधान घटना के साथ सदैव लिपटी रहती हैं। भिन्न-भिन्न घटनाओं का

असम्बद्ध वर्णन इनके उपन्यासों में नहीं रहता; वे सब की सब एक दूसरी पर टिकी हुई रहती हैं। सबका उद्देश्य एक होता है और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे सब-की-सब एक ही सहारे को पकड़ कर आगे बढ़ती हैं।

यह सम्बद्धता, और उपन्यासों में तो नहीं, पर 'कायाकल्प' में कुछ जटिल हो गई है। इस जटिलता ने उसमें इतने अधिक रहस्यों की उद्भावना कर दी है कि कहीं-कहीं पाठकों की बुद्धि चकरा जाती है। पात्रों के इस जीवन की घटनाएँ तो एक दूसरी से सम्बद्ध हैं ही, इसके अतिरिक्त, उनके जन्म-जन्मान्तर के पारस्परिक सम्बन्ध भी एक दूसरे के साथ आकर इस तरह जुड़ गये हैं कि सीधी तरह से समझ में आते ही नहीं। इसको छोड़ कर, इनके और किसी भी उपन्यास में 'कष्ट-कल्पना' का दोष नहीं देख पड़ता। घटनाओं की सम्बद्धता और सुस्पष्टता का सामञ्जस्य ही इनकी वस्तु-विन्यास की शैली का सबसे बड़ा सौन्दर्य्य है। किन्तु, 'कायाकल्प' की कथा-सामग्री ही कुछ ऐसी है कि वह इस सामञ्जस्य को आश्रय नहीं दे सकती।

जीवन की घटना या स्थिति से सम्बन्ध रखनेवाली साधारण-से-साधारण बातों को भी ये अपनी अलौकिक

प्रतिभा का पुट

प्रतिभा का पुट देकर असाधारण बना देते हैं; किन्तु उस असाधारणता में किसी

प्रकार की अस्वाभाविकता नहीं आने पाती। सुनते हैं, पारस लोहे को छूकर सोना बना देता है। पर, इनकी प्रतिभा का स्पर्श पाकर मिट्टी भी सोना हो जाती है। ये सदैव देखे हुए दृश्य दिखाते हैं, सुनी हुई बातें सुनाते हैं। पर, क्या मजाल कि हम उन्हें इनकी प्रतिभा के आलोक में देखकर विस्मय-विमुग्ध न हो जायँ, उन्हें इनके पात्रों के मुँह से सुनकर फड़क न उठें!

साधारण-सी बात है कि बच्चों के प्रति सबके हृदय में प्रेम होता है—वे पराये हों या अपने। परन्तु, उन्हें मिठाइयाँ खिलाने में आनन्द भले ही आये, उनके लिये स्वयं मार खाने में कितने लोग सुख का अनुभव कर सकते हैं? लेकिन, मुंशी शालिग्राम का शिशु-प्रेम देखिये :—

"पाषाण-हृदया माता अपने बच्चे को मार रही थी। लड़का बिलख-बिलख कर रो रहा था। मुंशी जी से न रहा गया। दौड़े, बच्चे को गोद में उठा लिया, और उस स्त्री के सम्मुख अपना सिर झुका दिया ('वरदान'—पृ० ४)।"

यह एक अत्यन्त छोटी-सी घटना है। किन्तु, प्रेमचन्दजी की प्रतिभा ने इसके भीतर जिस असाधारण भाव-सौन्दर्य्य की सृष्टि कर दी है वह उपन्यास-कला के नाते अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह महत्त्व बच्चे के प्रति प्रेम-प्रदर्शन में नहीं,

उसकी रक्षा के लिए, अपना सिर झुका देने में है। कोई प्रतिभा-हीन लेखक होता तो शायद उस स्त्री के साथ मुंशीजी की लड़ाई करवा देता, एक दूसरा ही हंगामा खड़ा कर देता!

स्त्रियों का आभूषण-प्रेम इतनी साधारण सी बात है कि इससे सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं के भीतर किसी प्रकार की महत्त्वपूर्ण नूतनता का पता ही नहीं चलता। किन्तु, प्रेमचन्दजी ने इसी एक छोटी-सी बात को लेकर 'ग़बन' की कहानी आरम्भ की है और अन्त तक पहुँचते-पहुँचते उसके भीतर जिन मार्मिक घटनाओं की सृष्टि कर दी है वे हमारे हृदय में केवल कलात्मक आनन्द की ही धारा नहीं बहातीं, उसे उच्च भावनाओं और मधुर अभिलाषाओं से भर भी देती हैं। यही इनकी प्रतिभा का प्रभाव है।

प्रतिभा के इसी अविचल प्रभाव के कारण, सर्वथा दोष-शून्य न होकर भी, इनकी वस्तु-विन्यास की प्रणाली शृंखलाबद्ध, प्रौढ़, मार्मिक और मनोरंजक होती है।

चरित्र-चित्रण

उपन्यास वस्तु-प्रधान भी होते हैं और पात्र-प्रधान भी। बहुधा ऐसा देखा जाता है कि जिस उपन्यास में वस्तु-विधान पर अधिक ध्यान दिया जाता है उसमें चरित्र-चित्रण की सुन्दरता नहीं आ पाती, और जिसमें चरित्र-चित्रण को ही प्रधानता दी जाती है वह, वस्तु-विन्यास की पुष्ट प्रणाली के अभाव में पड़कर, अपना सारा महत्त्व और आकर्षण खो बैठता है। प्रेमचन्दजी 'वस्तु' और 'पात्र' के इस पारस्परिक विरोध से सदैव सतर्क रहते हैं। इनके उपन्यासों में इन दोनों ही तत्त्वों का उपयुक्त संमिश्रण रहता है; दोनों ही को

वस्तु और पात्र की सम्बन्ध-रक्षा

एक दूसरे पर आश्रित रखकर ये उन्हें अपने-अपने काम में लगाये रहते हैं—आपस में लड़ने-भिड़ने का अवसर ही नहीं देते। घटना-चक्र में पड़कर ही इनके पात्रों का चरित्र प्रस्फुटित होता है और पात्रों के चरित्र से ही घटना की सृष्टि भी होती है। 'सेवासदन' की 'सुमन' स्थिति की विवशता से ही वेश्यावृत्ति ग्रहण करती है, किन्तु उस विषम परिस्थिति को सामने लाकर खड़ी करती है उसकी अपनी भोग-भावना ही—उसके चरित्र की दुर्बलता ही। और, जब वह उस जघन्य वृत्ति से छुटकारा पाना चाहती है तब भी, उसका अपना ही मनोबल काम करता है। अपनी परिस्थितियों की विधात्री वह स्वयं है, और उन्हीं परिस्थितियों-द्वारा वह अच्छी तरह जानी-पहचानी भी जाती है। 'रंगभूमि' का सबकुछ है 'सूरदास' और 'सूरदास' को अमरत्व प्रदान करने वाली हैं 'रंगभूमि' की परिस्थितियाँ। 'सूरदास' ही अपने चरित्र-बल से सत्याग्रह-संग्राम का श्रीगणेश करता है और वह सत्याग्रह-संग्राम ही उसके चरित्र-बल की दृढ़ता को बढ़ानेवाला तथा उसकी महत्ता को पूर्णरूप से परिज्ञापित करने वाला है। 'गबन' वाला 'रमानाथ' अर्थ-संकट में पड़कर ही, इच्छा के सर्वथा विरुद्ध अपनी स्त्री के आभूषण चुराता है और अपने कार्यालय

से रुपये उड़ा लेता है। घटना-चक्रमें पड़कर ही वह निर्दोष प्राणियों के विरुद्ध रचे गये अमानुषिक कुचक्रों का संचालक बन जाता है और, अपनी समस्त चारित्रिक दुर्बलताएँ बढ़ाकर, स्वयं भी अवाञ्छनीय जीवन व्यतीत करने को विवश होता है। किन्तु, उस प्रारंभिक घटना का—उस अर्थ-संकटवाली परिस्थिति का—जनक भी उसका अपना ही चरित्र है। फैशन का गुलाम वह शुरू से था। उसी गुलामी में पड़ कर वह गलती पर गलती करता गया और अन्त में उस परिस्थिति के पंजे मे जा पड़ा जो, उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे पतित बनाने का कारण बनी। 'कर्मभूमि' के 'समरकान्त' स्थिति के आग्रह में पड़कर अपनी अर्थ-लोलुपता से ही मुक्त नहीं हो जाते, उस पथ के पथिक भी बन जाते हैं जिस पर अपने पुत्र 'अमरकान्त' का पाँव रखना भी उन्हें पहले नहीं सुहाता था। किन्तु, साथ ही, यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अपने पिता की अर्थ-लोलुपता देखकर ही अमर के हृदय में उस अर्थ-विराग तथा लोकसेवा की भावना का प्रादुर्भाव होता है जिसके द्वारा, आगे चल कर, 'समरकान्त' को बदल देने वाली स्थिति का निर्माण हुआ है। सारांश यह कि प्रेमचन्दजी अपने उपन्यासों में पात्रों के चरित्र से ही

घटनाओं की सृष्टि भी कराते हैं और घटनाओं से ही पात्रों के चरित्र का विकास भी।

स्थिति का प्रभाव चरित्र पर अलक्षित रूप से पड़ता है, इस बात को प्रेमचन्द जी बराबर सिद्ध करते चलते हैं। 'कायाकल्प' का वही 'चक्रधर' जो एक गाय की जीवन-रक्षा के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग करने को कटिवद्ध हो जाता है ('कायाकल्प'—पृ० ४६), जो जेल के दरोगा को बचाने के प्रयत्न में स्वयं अपने आप को संगीन का निशाना बना लेता है ('कायाकल्प'—पृष्ठ २४५), जो गरीब किसानों और मजदूरों का सच्चा और स्नेही सेवक है, जब वैभव के मादक वातावरण में रहने लगता है तब, थोड़ी ही देर के लिए सही, कुछ-न-कुछ अवश्य बदल जाता है। अपनी 'मोटर' उलट जाने पर वह एक किसान से कहता है "तुम लोगों को उसे ठेल कर ले चलना पड़ेगा, ××× मैं कहता हूँ तुमको चलना पड़ेगा, ××× मैं सीधे से कहता हूं ।" और जब उसके इस प्रकार 'सीधे से' कहने का भी कोई प्रभाव उस किसान पर नहीं पड़ता तब वह "बाज की तरह किसान पर टूट" पड़ता है "और धक्का देकर" कहता है "चलता है या जमाऊँ दो चार हाथ। तुम लात के आदमी बात से क्यों मानने

लगे ('कायाकल्प'—पृ० ४१५, ४१६)!" इस आकस्मिक स्वभाव-परिवर्त्तन का कारण 'चक्रधर' स्वयं समझ जाता है अब उसे अनुभव होता है कि "रियासत की बू कितनी गुप्त और अलक्षित रूप से उसमें समाती जाती है—कितनी गुप्त और अलक्षित रूप से उसकी मनुष्यता का, चरित्र का, सिद्धान्त का ह्रास हो रहा है ('कायाकल्प'—पृ० ४२०)।" इस घटना के कारण "चक्रधर को रात भर नींद न आयी।" वह समझ गया कि "इस वातावरण में रहकर (रियासत का मालिक बनकर) मेरे लिए अपनी मनोवृत्तियों को स्थिर रखना असाध्य है। धन में धर्म है, दया है, उदारता है, लेकिन इनके साथ गर्व भी है जो इन गुणों को मटियामेट कर देता है ('कायकल्प'—पृ० ४३०)।" इसी के परिणाम-स्वरूप, वह धन-जन का मोह छोड़कर वैरागी बन जाता है। लेकिन, 'प्रेमाश्रम' के 'मायाशंकर' को 'गायत्री' की सम्पत्ति पाकर किसी प्रकार का मद नहीं होता। इसका कारण यह है कि वह, स्वभाव से ही विभव-विरागी होने के साथ-साथ, 'प्रेमशंकर' का शिष्य था। एक बात यह भी है कि शील-स्वभाव से सम्बन्ध रखनेवाली प्रतिक्रियाएँ अधिकतर जीवन-स्थिति के आकस्मिक परिवर्त्तन पर ही निर्भर रहा करती हैं। 'मायाशंकर' का

धनागम आकस्मिक नहीं था, इसीसे उसके लिए वह प्रतिक्रियात्मक न सिद्ध हो सका।

कहीं-कहीं प्रेमचन्दजी इस प्रकार के स्वभाव-परिवर्त्तन का कारण बताना भूल भी जाते हैं। 'कर्मभूमि' की 'मुन्नी' के प्रसंग में इन्होंने ऐसा ही किया है। 'मुन्नी' एक सती-साध्वी नारी है। उसके सिद्धान्त इतने ऊँचे हैं कि पर पुरुष-द्वारा बलात् अपवित्र की गई अपनी काया के छाया-स्पर्श से भी वह अपने एकलौते बेटे और प्राणप्रिय स्वामी को अलग रखती है। बच्चे के "तेवाल थोलो" कहने पर भी वह केवाड़ नहीं खोलती और पति को सम्बोधन करके भीतर ही से "अपने उमड़ते हुए प्यार को रोकने के लिए" बोल उठती है "तुम क्यों मेरे पीछे पड़े हो ? क्यों नहीं समझ लेते कि मैं मर गई ? × × × जाकर अपना व्याह कर लो और बच्चे को पालो। × × × क्यों मेरी टेक तोड़ रहे हो, मेरे मन को क्यों मोह में डाल रहे हो ? पतिता के साथ तुम सुख से न रहोगे। मुझ पर दया करो, आज ही चले जाओ, नहीं मैं सच कहती हूँ, जहर खा लूँगी ('कर्मभूमि'-पृ० २४७)।" सिद्धान्त कितना कठोर है, आदर्शवाद कितना निर्मम! पर मिथ्या नहीं है, बनावटी नहीं है। वह सचमुच अपने पति और पुत्र को अपना मुँह नहीं दिखाना

चाहती। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नारी-हृदय की मातृत्व-भावना का विचार करते हुए, सतीत्व के आदर्शों की यह निष्ठुर दृढ़ता यहाँ कुछ अस्वाभाविक समझी जा सकती है—है भी। पर 'मुन्नी' जो कुछ कह रही है और कर रही है उसमें दिखावे का भाव नहीं, शुद्ध सचाई का भाव भरा हुआ है। मानसिक पवित्रता, शारीरिक अशुचिता को भी अपनी ही समझती है और चाहती है कि औरों पर भी यह बात प्रकट हो जाय—जिससे उसके ऊपर किसी को ठगने का अभियोग न लगे। यह मानव-चरित्र का एक बहुत ऊँचा आदर्श है, और इस पर आपना प्रतिविम्ब डालने का सबसे बड़ा अधिकार ईश्वर ने दिया है भारतीय नारी-हृदय को। 'मुन्नी' के ये विचार उसी हृदय की उपज हैं। शरत् बाबू के 'चरित्रहीन' की 'सावित्री' के विचार भी कुछ-कुछ ऐसे ही हैं। 'सतीश' से एक जगह वह कहती है "यह मेरी देह अब तक भी दूषित नहीं हुई है, लेकिन अपने को तुम्हारे पावों में अर्पित कर देने की सामर्थ्य भी तो इसमें नहीं है। इस देह से जो मैंने जान-बूझकर बहुतों का मन मोहित किया है, यह तो मैं किसी तरह भूल न सकूँगी। इससे चाहे जिसकी सेवा हो, पर तुम्हारी पूजा तो किसी तरह नहीं हो सकती। देखो, यदि तुमसे इतना प्रेम न करती तो इस तरह तुमको

छोड़कर मुझे जाना न पड़ता ('चरित्रहीन'— हिन्दी संस्करण: प्रथम—पृ० ६०५)।" इतना कहकर उस समय उसने "बारंबार आंखें पोछीं" थीं, इस समय उसके कथन को दुहराकर हम भी अपनी आँखें पोछ रहे हैं। वह इस 'परमादर्श' के आगे अन्त तक खड़ी रही। बेचारी 'मुन्नी' न रह सकी। न रह सकी, इसका हमें खेद नहीं। उत्थान और पतन तो लगा ही रहता है। खेद तो इस बात का है, और शिकायत भी यही है, कि बेचारी आदर्श-च्युत हुई क्यों यह हमें कहीं इशारे से भी नहीं बताया गया है। आश्चर्य होता है जब हम, कुछ ही दिनों बाद, सहसा देखते हैं कि विधवा 'मुन्नी' (मेरे एक स्वर्गीय मित्र के शब्दों में "सार्वजनिक भाभी" बनकर) 'अमरकान्त (एक पर पुरुष) के प्रति केवल अपना प्रेम ही नहीं प्रदर्शित करती, प्रत्युत, उसे रिझाने के विचार से "कछनी काछे हुए, चौड़ी छाती वाले, एक गठीले जवान के साथ (सार्वजनिक मञ्च पर) हाथ मे हाथ मिलाकर, कभी कमर पर हाथ रखकर, कभी कुल्हों को ताल से मटकाकर, नाचने में उन्मत्त हो रही है ('कर्मभूमि'—पृ० २२१)।" उसकी "यह बेशर्मी" स्वयं अमरकान्त से भी "नहीं सही जाती" पाठकों और आलोचकों से तो भला क्या सही

जायगी ! 'मुन्नी' के इस शील-परिवर्त्तन का कोई भी सन्तोषजनक कारण उपन्यास में कहीं उपस्थित नहीं किया गया है। जो आदर्श लेकर 'मुन्नी' चलती है, वह एकाएक इस तरह बीच ही में क्यों टूट जाता है—इस प्रश्न के उत्तर में प्रेमचन्दजी अधिक-से-अधिक इतना ही कह सकते हैं कि 'भई, इस प्रकार की बातें जीवन में कभी-कभी अकारण ही हो जाया करती हैं।' किन्तु, यह उत्तर उपन्यास-कला के नाते उपयुक्त समझा जायगा या नहीं, इसमें सन्देह है।

शील-निरूपण की प्रणाली

प्रेमचन्दजी अपने उपन्यासों में नाट्य-तत्त्वों से भी काम लेते हैं। इनकी शील-निरूपण की प्रणाली केवल विश्लेषणात्मक ही नहीं, अभिनयात्मक भी होती है। पात्रों की भावनाओं एवं मनोवृत्तियों की व्याख्या ये स्वयं भी करते हैं और उन्हें (पात्रों को) भी इस बात का अवसर देते चलते हैं कि वे अपने कथन और कार्य्यों से, या औरों की आलोचनात्मक सम्मति के द्वारा, अपने शील-स्वभाव का परिचय प्रदान करें। प्रेमचन्दजी अपनी ओर से भी कहते हैं कि "रानी देवप्रिया का बुढ़ापा अतृप्त तृष्णा थी और अपूर्ण विलासाराधना ('कायाकल्प'—पृ० ८१)" और उसके भावों, कथनों तथा व्यापारों-द्वारा भी अपने इस

अभिमत की परिपुष्टि कराते चलते हैं। ये हमें स्वयं भी बताते हैं कि "ज्ञानशंकर के हृदय में भावी उन्नति की बड़ी-बड़ी अभिलाषायें थीं। वह अपने परिवार को फिर सम्वृद्धि और सम्मान के शिखर पर ले जाना चाहते थे। × × × चैन से जीवन व्यतीत हो, यही उसका ध्येय था...('प्रेमाश्रम'—पृ० ६) और "ज्ञानशंकर की दृष्टि में आत्म-संयम का महत्त्व बहुत कम था ('प्रेमाश्रम'–पृ० १०४)।" 'विद्या' भी मन में सोचती है "हृदय का कितना काला, कितना धूर्त, कितना लोभी, कितना स्वार्थान्ध मनुष्य है कि अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए किसी की जान, किसी की आबरू की भी परवाह नहीं करता ('प्रेमाश्रम'–पृ० ५००)!" ज्ञानशंकर की अपनी बातों और व्यापार-चेष्टाओं से भी हमें यही पता चलता है। उसके सम्बन्ध में उपन्यासकार की तथा और-और पात्रों की जो धारणाएँ हैं उनके सर्वथा सत्य होने का समर्थन करनेवाली स्वयं उसकी करनी भी है।

अपनी ओर से उपन्यास के पात्रों के शील-स्वभाव के सम्बन्ध में प्रेमचन्द जी उतना ही कहते हैं जितना अवसर के नाते आवश्यक प्रतीत होता है। बीच-बीच में संकेत भर देते चलते हैं—विवरणात्मक अभिमत प्रकट करने की रसहीन शैली का आश्रय नहीं लेते। पात्र स्वयं ही अपने

मन, वचन और कर्म से अपने चरित्र का विश्लेषण करते चलते हैं, और अन्यान्य पात्रों को भी उसके सम्बन्ध में टीका-टिप्पणी करने का अवसर देते रहते हैं। इनके उपन्यासों के कुछ पात्र ऐसे भी हैं जो अपने सम्बन्ध में कहना या कहवाना कम जानते हैं, कार्यों-द्वारा आत्माभिव्यक्ति करना अधिक। 'कायाकल्प' की 'मनोरमा' के हृदय में 'चक्रधर' के प्रति जिस प्रेम-भावना की सृष्टि होती है उसकी रक्षा वह जीवन-पर्यन्त करती चली जाती है, पर उसकी वह साधना जितनी नीरव और निष्काम है, उतनी ही सुदृढ़ और सक्रिय भी। ' अपने 'आराध्य' की उपासना के लिए ही वह अपने जीवन को उत्सर्ग-पुष्प बना देती है, किन्तु 'उनसे' न तो कभी खुलकर इसकी चर्चा करती है और न इसके बदले में कुछ पाना चाहती है। कर्त्तव्य और त्याग के सौन्दर्य्य से प्रेम की शोभा बढ़ाने वाली यह 'मनोरमा' ही 'कायाकल्प' की औपन्यासिक मार्मिकता का संरक्षण करनेवाली है। 'रंगभूमि' की 'सोफिया' का प्रेम भी इतना नीरव, इतना निस्पृह, इतना करुण नहीं जितना कि इसका।

स्थल और अवसर के अनुसार, कभी-कभी, नाटकीय ढंग से पात्रों का प्रवेश कराके प्रेमचन्द घटना को ही

प्रगतिशील नहीं बनाते, चरित्र-चित्रण की प्रणाली में भी एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक मनोरमता ले आते हैं। अमरकान्त ने "सकीना को छाती से लगा लेने के लिए अपनी तरफ खींचा। उसी वक्त द्वार खुला और पठानिन अन्दर आई। सकीना एक कदम पीछे हट गई। अमर भी ज़रा पीछे खिसक गया ('कर्मभूमि'—पृ० १७४)।" स्वभाव और सूझ के अनुसार ही लोग ऐसे अवसर पर काम करते हैं। अमर ने स्वाभाविक स्नेह और भय-भीरुता से काम लेकर "बात बनाई—आज तुम कहाँ चली गई थीं अम्मा ? मैं यह साड़ियाँ देने आया था × × ×।" बुढ़िया भी दरिद्रता के आवरण से ढके हुए अपने आत्म-सम्मान तथा स्वाभाविक रोष से काम लेती हुई "आँखें निकालकर बोली—होश में आ छोकरे। × × × हम यहाँ तेरी साड़ियों के भूखे नहीं हैं। × × × हम ग़रीब हैं, मुसीबत के मारे हैं, रोटियों के मुहताज हैं। जानता है क्यों ? इसलिए कि हमें आबरू प्यारी है। खबरदार, जो कभी इधर का रुख किया। मुँह में कालिख लगाकर चला जा।" लेकिन, सकीना ? वह तो 'अमर' का हाथ पकड़कर रोती हुई कहती है "मैं भी तुम्हारे साथ चलती हूँ। मैं बेआबरू ही रहूँगी ('कर्मभूमि'—पृ० १७५)।"

एक ही स्थल पर, एक ही घटना के द्वारा, तीनों पात्रों के स्वभाव की कितनी मार्मिक, मनोहर और विशद व्याख्या कर दी गई है। 'सेवासदन' में भी, साधु के रूप में 'गजाधर' को इसी प्रकार के नाटकीय ढंग से लाकर कई स्थलों पर इन्होंने खड़ा किया है। वह आता है, कुछ कहकर स्थिति का स्वरूप बदल देता है और फिर तुरन्त ही अदृश्य हो जाता है। अमोला में, 'शान्ता' के विवाह के अवसर पर वेश्यानृत्य के अभाव से क्रुद्ध होकर, जब लोग बरातियों के शामियाने पर पत्थर फेंकने लगते हैं, एक हलचल-सी मच जाती है, मार-पीट तक की नौबत आ खड़ी होती है, उसी समय अकस्मात् एक दीर्घकाय पुरुष, सिर मुँड़ाये भस्म रमाये, हाथ में एक त्रिशूल लिये आकर महफिल में खड़ा हो" जाता है और उसे देखते ही "महफिल में सन्नाटा छा" जाता है ('सेवासदन'—पृ० १६३)। उसके मुँह से जब लोग सुनते हैं "विषय-भोग के सेवको! तुम्हें नाच का नाम लेते लाज नहीं आती? अपना कल्याण चाहते हो तो इस नीति को मिटाओ। इस कुवासना को तजो, वेश्याप्रेम का त्याग करो ('सेवासदन'—पृ० १६४)" तब सब-के-सब "मूर्तिवत्" निश्चल और निर्वाक हो जाते हैं। स्थिति बदल जाती है, 'गजाधर' अदृश्य हो जाता है।

इसी तरह घटनास्थल पर ये पात्रों का आकस्मिक आगमन कराके उनके स्वभाव और प्रभाव का परिज्ञापन करते हैं, और इस काम में इन्हें असफलता से अधिक सफलता ही मिलती है। चरित्र-चित्रण में अभिनयात्मक प्रणाली का भी आश्रय ये वहीं तक ग्रहण करते हैं जहाँ तक वह इनके उपन्यास को नाटक का विकृत रूप धारण करने से बचाती है।

शील निरूपण की प्रणाली का स्वरूप चाहे जैसा हो, मुख्य बात तो यह है कि उसमें सजीवता और स्वाभाविकता की कमी न रहे। वर्णन-दीर्घता के लोभ में पड़कर कहीं-कहीं भूल जाएँ तो भूल जाएँ, नहीं तो, प्रेमचन्द जी इसका पर्याप्त ध्यान रखते हैं। इनके पात्र सजीव भी होते हैं और स्वाभाविक भी। उन्हें हम जानते-पहचानते हैं, उनके साथ हिल-मिलकर, जी खोलकर बातें कर सकते हैं; क्योंकि वे हमारे ही बीच के हैं। जो ऊँचे आदर्शों के उपासक हैं, वे भी मनुष्य हैं, जो कुत्सित भावनाओं एवं नीच वृत्तियों-द्वारा अपने स्वार्थ की परिपुष्टि करनेवाले हैं, वे भी मनुष्य ही हैं—ठीक वैसे ही मनुष्य जैसे हम और आप। निस्सन्देह, दो-एक ऐसे भी अद्भुत जीव हैं जिन्हें आजकल

सजीवता और स्वाभाविकता

हम खोजने-ढूँढ़ने पर ही पा जाएँ तो पा जाएँ, नहीं तो, योंही, राह चलते, उनसे भेंट नहीं हो सकती। 'प्रेमाश्रम' के 'राय कमलानन्द' और 'कायाकल्प' वाली 'रानी देवप्रिया' का पता आजकल कहीं लगेगा या नहीं, कहा नहीं जा सकता। 'रायसाहब' को देखिये—"गरमी इतनी पड़ती थी कि जान पड़ता था अग्नि-कुण्ड है। पर इस आग की भट्टी में रायसाहब एक मोटा ऊनी कम्बल ओढ़े हुए थे ('प्रेमाश्रम'—पृ० १७७)।" वे कहते हैं "मैं सर्वभक्षी हूँ इसी का फल है कि मैं साठ वर्ष की आयु होने पर भी जवान हूँ ('प्रेमाश्रम'—पृ० १७८)। मैं गरमी में आग खाता हूँ और आग ही पीता हूँ। × × × विष को दूध-घी समझता हूँ, जाड़े में हिमकणों का सेवन करता हूँ और हिमालय की हवा खाता हूँ ('प्रेमाश्रम'—पृ० १७९)।" उनका आत्मबल इतना अधिक प्रभावशाली है कि ज्योंही वे 'ज्ञानशंकर' को "चुभती हुई दृष्टि से" देखकर "कड़ी आवाज" में बोल उठते हैं—"तुम्हें सच कहना होगा" त्योंही उसको ऐसा अनुभव होने लगता है "मानों हृदय पर से कोई परदा उठा जा रहा है!" उस पर "एक अर्द्ध विस्मृति की दशा" छा जाती है और "दीन भाव से" वह स्वीकार कर लेता है—"जी हाँ, सच कहूँगा।"

राय०—तुमने यह जाल किसके लिए फैलाया है ?

ज्ञान०—गायत्री के लिए।

राय०—तुम उससे क्या चाहते हो ?

ज्ञान०—उसकी सम्पत्ति और उसका प्रेम।

('प्रेमाश्रम'—पृ० ४२२)

धूर्त 'ज्ञानशंकर' पूर्ण रूप से पराजित हो जाता है, उसके मुँह से आत्म-रक्षा के लिए झूठ का एक शब्द भी नहीं निकल पाता ! इन्हीं 'राय साहब' की योग-शक्ति का भी साक्षात्कार कर लीजिए। "यद्यपि यह थाल बीस-पचीस आदमियों को सुलाने के लिए काफी है, शायद एक कौर खाने के बाद उन्हें दूसरे कौर की नौबत न आयेगी, लेकिन मैं पूरा थाल हजम कर सकता हूँ और मेरे माथे पर बल भी न दिखाई देगा। मैं शक्ति का उपासक हूँ, ऐसी ऐसी वस्तुएँ मेरे लिए दूध और पानी हैं—यह कहते-कहते रायसाहब ने थाल से कई कौर उठाकर जल्द-जल्द खाये ('प्रेमाश्रम'—४३५)।" लेकिन, यह अद्भुत जीव भी हाड़-मांस का बना मनुष्य ही है। इसीलिये वह योग-शक्ति से विष के घातक प्रभाव को दबा तो देता है किन्तु, साथ ही, यह भी अनुभव करने लगता है कि "यह दाह मुझे कुछ दिनों में भस्म कर देगी। मेरे जीवन की

अनन्त शोभा का अन्त होगया ('प्रेमाश्रम'—पृ० ४३८)।"

'रानी देवप्रिया' तो 'कायाकल्प' की जादूगरनी है—इतनी रहस्यमयी, अद्भुत और अलौकिक कि आजकल के लोगों को अपने अस्तित्व पर विश्वास नहीं करने देती, साथ ही, इतनी सजीव और स्वाभाविक कि हम उसको सर्वथा अविश्वास की दृष्टि से भी नहीं देख सकते! "विनोद और विलास" इन्हीं दो शब्दों में जिसका जीवन समाप्त हो जाता है, परलोक की चिन्ता जिसे कभी भूलकर भी नहीं होती, अपने शारीरिक विकारों से निवृत्ति और विलास में रत रहने की परम योग्यता" ही जिसके "दान और स्नान का मुख्य उद्देश्य" रहता है ('कायाकल्प' पृ० ८१) वही विलासिनी उपन्यास में बार-बार अपनी काया बदलकर आती है, बार-बार विधवा होती है और बार-बार अपने 'प्रियतम' को पाकर सधवा! इतनी अलौकिकता से भरी हुई होने पर भी वह पहचान में आ जाती है; क्योंकि उसका चरित्र मानव-चरित्र ही है। पर, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि इस तरह की बातें, चाहे लाख सच हों, आजकल हमें सच-सी लगती नहीं हैं। यही कारण है कि भाषा, भाव, चरित्र-चित्रण आदि के नाते, इनके उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ होने की योग्यता रखते

हुए भी 'कायाकल्प' एक उलझी हुई रहस्य-गाथा के ही रूप में रह गया—'रंगभूमि' से आगे न निकल सका।

परिस्थिति के घात-प्रतिघात में पड़कर जिस चरित्र का विकास होता है उसके चित्रण में प्रेमचन्दजी बड़ी कुशलता से काम लेते हैं। उसमें कहीं किसी प्रकार की अस्वाभाविकता नहीं आने पाती। 'सेवासदन' वाला 'सदन सिंह' जब, अपने पिता 'मदन सिंह' की इच्छा और आशा के विरुद्ध, 'शान्ता' को पत्नी के रूप में ग्रहण कर, सबसे अलग हो जाता है तब उनकी यह दशा हो जाती है कि जो उनके पास आता है उसीसे वे 'सदन' की बुराई करने लगते हैं "कपूत है, भ्रष्ट है, शोहदा है, लुच्चा है, एक कानी कौड़ी तो दूँगा नहीं; भीख माँगता फिरेगा तब आटे-दाल का भाव मालूम होगा। ......जोगी हो जाऊँगा, संन्यासी हो जाऊँगा, लेकिन उस छोकड़े का मुँह न देखूँगा ('सेवासदन'—पृ० ३३६, ४०)।" इसके बाद ही उनकी मानसिक अवस्था में परिवर्त्तन होता है। किसी दूसरे के मुँह से उसकी बुराई सुनकर अनमने भाव से कहते हैं "भाई! अब क्यों उसे कोसते हो? अच्छा है या बुरा है, अपने चार पैसे कमाता है, खाता है। ... क्या चाहते हो कि वह भीख माँगे, दूसरों की रोटियाँ तोड़े? .... अभी

जवान है, शौकीन है, अगर कमाता है और उड़ाता है तो किसी को बुरा क्यों लगे (' सेवासदन '—पृ० ३४०) ? " पुत्र का वियोग उन्हें धीरे-धीरे असह्य हो उठता है, जो सर्वथा स्वाभाविक है। कुछ ही दिनों बाद अपने छोटे भाई ' पद्म सिंह ' के मुँह से "पोता मुबारक हो " सुनकर वे बोल उठते हैं " अरे ! यह तो तुमने बुरी खबर सुनाई ! ... वह मुझे अवश्य खींच ले जायगा। मेरे तो कदम अभी से उखड़ गये ! ... ... धूम-धाम से छठी मनावेंगे। बस, कल सवेरे चलो (' सेवासदन '—पृ० ३४४)। "

"तो बाबा, तुम अपने बाल-बच्चों को लेकर अलग हो जाओ, मैं तुम्हारा बोझ नहीं सम्हाल सकता। ... घर को अपना समझो, तो तुम्हारा सब कुछ है। ऐसा नहीं समझते, तो यहाँ तुम्हारा कुछ नहीं है ('कर्मभूमि'-पृ० १४६)। " इतना कहकर अपने पुत्र ' अमर ' को घर से निकाल देनेवाले ' समरकान्त ' जब बीमार पड़ जाते हैं, और उनकी पुत्र-वधू ' सुखदा ' जब उनकी सेवा-शुश्रूषा करने आती है, तब उनके मुँह से कितना सुन्दर और स्वाभाविक उपालम्भ निकल पड़ता है ! " अभी क्या आने की जल्दी थी बहू, दो चार दिन और देख लेतीं। तब तक यह धन का साँप उड़ गया होता। वह लौंडा समझता है,

मुझे अपने बाल-बच्चों से धन प्यारा है .....कृपण बना, बेईमानी की, दूसरों की खुशामद की, अपनी आत्मा की हत्या की, किसके लिए? जिसके लिए चोरी की, वही आज मुझे चोर कहता है ('कर्मभूमि'-पृ० १६७)।" कितने मार्मिक और स्नेह-भरे शब्द हैं, कितने करुण और वेदनापूर्ण! बहू जब जाने लगती है तब वे स्नेह-भरी आँखों से उसे देख कर कहते हैं "मैं जानता कि तुम मेरी तीमारदारी ही के लिए आई हो, तो दस-पाँच दिन और पड़ा रहता ('कर्मभूमि'—पृ० १६९)।" पिता की अर्थ-पैशाचिकता भी बाल-बच्चों की सुख-कामना लेकर ही चलती है--यही लाला समरकान्त के इस स्वभाव-परिवर्त्तन-द्वारा दिखलाया गया है।

जिस 'समरकान्त' की धर्मान्धता और कट्टरता के कारण देव-दर्शनोत्सुक अछूतों पर गोलियाँ चलाई जाती हैं वही, अपने बहू-बेटे के जेल चले जाने पर, मुसलमान (सलीम) के साथ, एक ही आसन पर बैठकर, भोजन करने लगते हैं। किन्तु, ऐसा करने के पहले कितनी सचाई और स्वाभाविकता से कहते हैं—"संस्कारों को मिटाना मुश्किल है। अगर जरूरत पड़े, तो मैं तुम्हारा मल उठाकर फेंक दूँगा; लेकिन तुम्हारी थाली में मुझसे न खाया जायगा ('कर्मभूमि'—पृ० ४६९)।" अपने पुत्र-प्रेम के कारण

ही इतनी तत्परता से परिस्थिति का प्रभाव ग्रहण कर लेने में वे समर्थ होते हैं। इसी कारण वे 'सलीम' को भी पुत्र-तुल्य समझने लगते हैं और उसके इस चुटकी लेने पर कि "अब तो आप मुसलमान हो गये", उससे कहते हैं "मैं मुसलमान नहीं हुआ, तुम हिन्दू हो गये ('कर्मभूमि', पृ०—४७०)।"

इनके उन्हीं पात्रों के चरित्र-चित्रण में थोड़ी-बहुत अस्वाभाविकता आ जाती है जिनके आदर्श और सिद्धान्त आवश्यकता से अधिक ऊँचे होते हैं। परिस्थिति के चपेटे में पड़कर भी वे कभी झुकते न हों, सो बात नहीं। झुकते हैं, पर, वहाँ, जहाँ नहीं झुकना चाहिए—नहीं झुकते हैं, वहाँ, जहाँ झुक जाना ही अधिक स्वाभाविक है। इनके पात्रों के आदर्शवाद और सिद्धान्त-प्रेम जब हृदय की सुकुमार भावनाओं तथा मनोवैज्ञानिक सचाइयों का साथ छोड़ देते हैं तब, औपन्यासिक अभिरुचि के नाते, वे हमारे काम के नहीं रह जाते—निष्ठुर और नीरस-से लगने लगते हैं। 'कर्मभूमि' की 'मुन्नी' का उच्चादर्श कुछ-कुछ ऐसा ही है, इसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। 'रंगभूमि' में 'ईश्वरसेवक' भी 'प्रभु मसीह' के भक्त हैं और 'मिसेज़ जॉन सेवक' भी। 'सोफ़िया' एक की पोती है—दूसरी की बेटी।

एक सच्चे ईसाई की तरह, ईश्वरसेवक तो उस लड़की के धार्मिक विद्रोह को अपने प्यार से दबाने की चेष्टा करते हुए कहते हैं "वह (सोफ़िया) मेरे खून का खून, मेरी जान की जान, मेरे प्राणों का प्राण है। मैं उसे कलेजे से लगाऊँगा। प्रभु मसीह ने विधर्मियों को छाती से लगाया था · वह मेरी सोफ़िया पर अवश्य दया करेंगे ('रंगभूमि'—पृ० ४२)।" परन्तु 'मिसेज़ जॉनसेवक' अपनी बेटी के मुँह से इतना सुनते ही कि "धार्मिक विषयों में मैं अपनी विवेक-बुद्धि के सिवा और किसी के आदेशों को नहीं मानती" इस बुरी तरह झल्ला उठती है कि उसे यह भी कहते देर नहीं लगती कि "मैं तुझे अपनी संतान नहीं समझती, और तेरी सूरत नहीं देखना चाहती।" इतना ही नहीं, स्पष्ट शब्दों में यह भी कह देती है कि "प्रभु मसीह से विमुख होने वाले के लिए इस घर में जगह नहीं है ('रंगभूमि'—पृ० ४१)।" जब इन बातों से भी उसे संतोष नहीं होता। तब यहाँ तक कह डालती है कि "तेरे कर्मों से तेरे मुख में कालिख लगेगी ('रंगभूमि'—पृ० ४७)।" बेचारी सोफ़िया, इन निर्मम शब्द-बाणों का आघात नहीं सह सकती, घर छोड़कर चली जाती है! पर, माता का हृदय नहीं पसीजता! 'कुँवर

भरत सिंह' के पत्र-द्वारा जब उसे मालूम होता है कि "एक झोपड़े में आग लग गई थी। वह (सोफ़िया) भी उसे बुझाने लगी। कहीं लपट में आ गई।" तब भी वह निष्ठुरता पूर्वक कहती है "ये सब बहाने हैं। ...जब कहीं शरण न मिली तो यह पत्र लिखवा दिया। अब आटे-दाल का भाव मालूम होगा ('रंगभूमि'—पृ० ६४)।" बड़ी मुश्किल से, अपने पति के संग, उसे मनाने भी जाती है तो वहाँ जाकर उससे यही कहती है कि "खुदा से मेरी यही प्रार्थना है कि वह मुझे तेरी सूरत न दिखाये ('रंगभूमि'—पृ० ७२)।" 'माँ' कहनेवाली एक नारी की यह निष्ठुरता अस्वाभाविकता की सीमा का ही अतिक्रमण नहीं करती, अनावश्यक-सी भी प्रतीत होती है। जिस छोटी-सी बात को लेकर उसकी धार्मिक भावना ने इतना बड़ा कुकाण्ड खड़ा किया, उसके मातृत्व का कर्त्तव्य था कि वह उसे अपनी स्वाभाविक उदारता से ही दबा देता। जिसको "अपना मसीह सारे संसार से, संतान से, यहाँ तक कि अपनी जान से भी प्यारा है ('रंगभूमि'—पृ० ७२)" उसके मातृत्व में भी थोड़ा-सा स्नेह, थोड़ी-सी करुणा, सहृदयता और सहिष्णुता का होना आवश्यक समझा जाना चाहिये था। इन कोमल उपकरणों के अभाव में पड़कर मिसेज़ जॉन सेवक, और चाहे जो

कुछ हों, माता नहीं रह गई हैं। इसी 'रंगभूमि' वाली 'रानी जाह्नवी' की और-और दृढ़ताएँ तो ठीक हैं, परन्तु "कुँअर विजय सिंह की वीर मृत्यु के पश्चात् भी उनका सदुत्साह दुगना हो गया। वह पहले से कहीं ज्यादा क्रियाशील हो गईं। उनके रोम-रोम में असाधारण स्फूर्ति का विकास हुआ। वृद्धावस्था की आलस्य-प्रियता यौवन काल की कर्मण्यता में परिणत हो गई ('रंगभूमि'—६२६)", ये बातें स्वाभाविक-सी नहीं जान पड़तीं। वैसे अच्छे बेटे के अमर वियोग का कुछ तो शोक होना चाहिए था, कुछ तो उस शोक का प्रभाव मन और शरीर पर पड़ना चाहिए था!

इनकी चरित्र-चित्रण की प्रणाली में कुछ ऐसी बातें भी मिलती हैं जिनका सम्बन्ध, अस्वाभाविकता से तो नहीं, पर, अविश्वसनीय संभावना से रहता है। इस संसार में असंभव कुछ भी नहीं है। किन्तु, कुछ ऐसी संभावनाएँ अवश्य होती हैं जिन पर विश्वास करने को जी नहीं चाहता, या जिन पर विश्वास टिकता ही नहीं। जैसे, "रात्रि के उस अगम्य अन्धकार में शंखधर भागा जा रहा था। उसके पैर पत्थर के टुकड़ों से चलनी हो गये थे। सारी देह थककर चूर हो गई थी, भूख के

अविश्वसनीय संभावना

मारे आँखों के सामने अन्धेरा छाया जाता था, प्यास के मारे कंठ में काँटे पड़ गये थे। पैर कहीं रखता था, पड़ते कहीं थे। पर वह गिरता-पड़ता भागा चला जा रहा था ('कायाकल्प'—पृ० ५०६)।" इतना ही नहीं "पहाड़ी की चढ़ाई कठिन थी। शंखधर को ऊपर चढ़ने का रास्ता न मालूम था। (तिस पर भी) वह इतनी तेजी से चढ़ रहा था कि दम के दम में ऊपर पहुँच गया ('कायाकल्प'-पृ० ५१०)।" इस विवरण को हम अस्वाभाविक नहीं कहते, असंभव भी नहीं कह सकते, लेकिन जब देखते हैं कि इतना कष्ट उठाकर वह जिस स्थान पर पहुँचता है वहाँ से साईंगंज (जिस गाँव में वह जाना चाहता है) पड़ता है कोई पांच कोस, मगर रास्ता बीहड़ है" और उतना अधिक थका हुआ होने पर भी वह लड़का "कुछ नहीं देखता, कुछ नहीं सुनता, चुपचाप अंध शक्ति की भाँति चला जा रहा है ('कायाकल्प'—पृ० ५११)", तब निस्सन्देह हमारे मन में उठ आता है—यह आदमी है या देवता या राक्षस? इसके शरीर में कोई यंत्र तो नहीं लगा हुआ है? 'रंगभूमि' के 'सूरदास' की शारीरिक शक्ति का प्रदर्शन भी इसी प्रकार से किया गया है। "मन, इतने दुखी न हो, माँगना तुम्हारा काम है, देना दूसरों का काम

है” ऐसे ऊँचे भाव रखनेवाला वह चक्षु-विहीन भिखारी भीख के पीछे पूरा एक मील तक 'जॉन सेवक' की गाड़ी के साथ दौड़ता ही चला जाता है! दुबला-पतला होकर भी वह “जगधर जैसे मोटे ताजे आदमी” के साथ मल्लयुद्ध करता है और उसमें, एक बार नहीं, दो-दो बार विजयी बनता है ('रंगभूमि'—पृ० १९६)। यह बात इतनी अविश्वासनीय, इतनी आश्चर्य्यपूर्ण है कि 'ठाकुरदीन' को विश्वास हो जाता है कि “सूरे को किसी देवता का इष्ट है ('रंगभूमि'—पृ० १९७)।” 'कर्मभूमि' वाले 'तेग मुहम्मद' भी पढ़े-लिखे आदमी थे और 'सलीम' भी। लेकिन बात ही बात में दोनों गँवारों की तरह भिड़ गये। “हाथापाई की नौबत आ गई। तेग मुहम्मद पहलवान था। सलीम भी ठोकर चलाने और घूँसेबाजी में मँजा हुआ। पहलवान साहब उसे अपनी पकड़ में लाकर दबोच बैठना चाहते थे। सलीम ठोकर पर ठोकर जमा रहा था·····('कर्मभूमि'—पृ० ४९८)” पात्रों की बौद्धिक संस्कृति और गंभीर परिस्थिति को देखते हुए यह मल्लयुद्ध सर्वथा अप्रासंगिक तथा अविश्वसनीय-सा प्रतीत होता है। उपन्यास के उस स्थल पर—जहाँ स्वयं सलीम 'आत्मानन्द' से कहता है “आप कुछ भंग तो नहीं खा गये हैं? भला यह रिवालवर चलाने

का मौक़ा है ?"—यह घटना व्यर्थ-सी भी दीखती है। 'गोदान' में डॉक्टर मेहता और मिर्जा खुर्शेद की कुश्तीनुमा कबड्डी भी किसी प्रकार की औपन्यासिक सुरुचि और स्वाभाविकता से कोई सम्बन्ध नहीं रखती ('गोदान'–पृ० २३१)। 'सेवासदन' वाली 'सुमन' वेश्यालय में पहुँचकर भी, "पतित होकर भी, खान-पान में विचार करती थी ; अपने ही हाथ से भोजन बनाती थी ('सेवासदन'—पृ० १३४) ।" जिसने केवल भोग-भावना से ही प्रेरित होकर अपने पति-गृह का परित्याग कर दिया, सब तरह के सुख और आराम का उपभोग करना ही जिसका एक मात्र उद्देश्य रहा, अपने घर में जिसका "चूल्हे के सामने जाने को जी न चाहता था" और जो कहती थी—"बदन में योंहीं आग लगी हुई है, यह आँच कैसे सही जायगी ('सेवासदन'—पृ० २३)।" वही 'सुमन' उस विलास की जगह पर पहुँचकर भी "अपने हाथ से भोजन बनाने" का कष्ट-भार क्यों और किस तरह वहन कर रही थी, यह समझ में नहीं आता। यही कारण है कि हम इसकी संभावना स्वीकार करते हुए भी इसपर अपना विश्वास नहीं जमा सकते। एक और घटना लीजिये। ताहिर अली, अपने छोटे भाई माहिर अली की कृतघ्नता से मर्माहत ही होते हों, सो बात नहीं, आपे से इतना अधिक

बाहर हो जाते हैं कि "इसके पहले कि माहिर अली कुछ जवाब दें, या सोच सकें कि क्या जवाब दूँ, या ताहिर अली को रोकने की चेष्टा करें, ताहिर अली ने झटपट क़लमदान उठा लिया, उसकी स्याही निकाल ली और माहिर अली की गर्दन जोर से पकड़ कर सारी स्याही मुँह पर पोत दी ('रंगभूमि'–पृ० ६०१)।" लेकिन इस तरह "सरे मजलिस" बुरा-भला कहे जाने तथा "मुँह में कालिख" पोती जाने पर भी (थानेदार साहब) "माहिर अली स्तंभित-से बैठे रहे ('रंगभूमि'—पृ० ६०१)"—अपने अपमान का उन्होंने कोई प्रतिकार नहीं किया। दोनों के काम एक-से अविश्वसनीय हैं, क्योंकि बड़े भाई साहब "इतने गुस्सेवर कभी न थे ('रंगभूमि'–पृ० ६०५)" और छोटे भाई साहब में न तो सहिष्णुता का भाव था, न उदारता का।

पात्रों के विषय में प्रेमचन्दजी एक ही समय सब कुछ नहीं कह डालते, घटना-चक्र की गति के अनुसार धीरे-धीरे उनके चरित्र के विभिन्न अंगों का विश्लेषण करते चलते हैं। मानव-प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली शायद ही कोई ऐसी बात हो जिसका उल्लेख करना ये भूल जाते हों। चरित्र का एक ही अंग पकड़कर, उसके एक ही पक्ष पर दृष्टि

चरित्र के विभिन्न अंगों का विश्लेषण

आरोपित करके, इनका कोई भी पात्र नहीं चलता। आदर्शवाद-द्वारा अपने देवत्व का विश्वास दिलानेवाले भी मानवीय दुर्बलताओं से सब प्रकार मुक्त नहीं रहते, और जिनकी स्वार्थान्धता या नीचता केवल दानवीय प्रवृत्ति का ही परिज्ञापन करती है उनमें भी कुछ-न-कुछ मानवोचित सद्गुण छिपे रहते हैं। 'रंगभूमि' का 'सूरदास' अपने देव-गुणों के कारण अद्भुत और अश्चर्यजनक होते हुए भी "देवता न था, फ़रिश्ता न था। एक क्षुद्र, शक्तिहीन प्राणी था, चिंताओं और बाधाओं से घिरा हुआ, जिसमें अवगुण भी थे और गुण भी। गुण कम थे, अवगुण बहुत। क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार ये सभी दुर्गुण उसके चरित्र में भरे हुए थे, गुण केवल एक था—अन्याय देख कर उससे न रहा जाता था। सभी दुर्गुण इसी एक गुण के सम्पर्क से, देवगुणों का रूप धारण कर लेते थे ('रंगभूमि'-पृ० ८९२)।" वैभव-लालसा में पड़कर 'ज्ञानशंकर' सब प्रकार की नीचताएँ कर सकता है; किन्तु अपने "त्यागी पुत्र के धर्मज्ञ पिता कहलाने का गौरव" न पा सकने के परिताप में "लज्जाहीन" और "बेहया" होकर जीवित नहीं रह सकता; सच्चे हृदय से इस बात का अनुभव करने लगता है कि "मैं अब किसी को मुँह दिखाने लायक़ नहीं रहा।

सम्पत्ति, मान, अधिकार, किसी का शौक नहीं। इनके बिना भी आदमी सुखी रह सकता है, बल्कि सच पूछो तो सुख इनसे मुक्त रहने में ही है (प्रेमाश्रम'—पृ० ६४७)।" पश्चात्ताप की आग में तपी हुई यह निर्मल अनुभूति, उसकी अन्तरात्मा को छूकर, मरते समय उसको पशु से मनुष्य बना देती है। 'कर्मभूमि' का 'काले खाँ' चोर, डाकू, हत्यारा, सब कुछ है। थोड़े-से चाँदी के टुकड़ों के लिए वह सबकुछ कर सकता है। नृशंसता ही उसका व्यवसाय है। पर वही जेल में 'अमर' से कहता है "यह तो अच्छा नहीं लगता कि तुम मेरे साथ चक्की पीसो। तुम्हें मैं न पीसने दूँगा ('कर्मभूमि'—पृ० ४८२)।" वह चक्की चलाता जाता है और बातें भी करता जाता है "भैया! कोई काम सवाब समझकर नहीं करना चाहिये। दिल को ऐसा बना लो कि काम में उसे वही मजा आवे जो गाने या खेलने में आता है ('कर्मभूमि'—पृ० ४८४)।" कितने सुंदर विचार हैं, कितनी गंभीर अनुभूति है! "वही डाकू, जिसे 'अमर' ने एक दिन अधमता के पैरों के नीचे लोटते देखा था, आज देवत्व के पद पर पहुँच गया था। उसकी आत्मा से मानों एक प्रकाश-सा निकल कर अमर के अंतःकरण को आलोकित करने लगा ('कर्मभूमि'—पृ० ४८५)।" 'रंगभूमि' वाली

'सोफ़िया' में दया है, प्रेम है, त्याग है, सेवा-भाव है, शालीनता है, सुशीलता है, पर, साथ ही, वह अपने 'त्रिया-चरित्र' से भी अच्छी तरह काम लेना जानती है; 'मि० क्लार्क, के साथ घोर विश्वासघात भी करती है। 'गबन' की 'जोहरा' एक वेश्या है, लेकिन, स्त्री होने के नाते, एक दूसरी स्त्री को संकट मुक्त करने के लिए, जिस निस्स्वार्थ प्रेम और त्याग का परिचय देती है वह कितना सुंदर है, कितना पवित्र! 'गोदान' की 'सिलिया' और 'चुहिया' भी अपनी-अपनी जगह पर बड़ी ही अच्छी दीख पड़ती हैं—एक प्रेम की अनन्यता के नाते, दूसरी सेवा-भाव की पवित्रता के नाते। और ये दोनों ही स्त्रियाँ 'छोटी जाति' की हैं!

किसके चरित्र का कौन-सा अंग दुर्बल है, किसकी कैसी मनोवृत्ति है, इसका परिचय प्रेमचन्दजी बड़े मार्मिक और मनोरंजक ढंग से देते हैं। शाप-भीरुता, स्त्रीस्वभाव का एक अंग है, उसके चरित्र की एक स्वाभाविक दुर्बलता है। 'शीलमणि' पहले तो अपने पति ज्वाला सिंह को इसी बात पर विवश करने को अड़ी रहती है कि चाहे जैसे हो, वे 'ज्ञानशंकर' की ही डिग्री कर दें। लेकिन जब उनके मुँह से सुनती है "यह सोच लो कि तुम अपने ऊपर

कितना बड़ा बोझ ले रही हो। लखनपुर में प्लेग का भयंकर प्रकोप हो रहा है। ज्ञानशंकर डिगरी पाते ही जारी कर देंगे। ... यह दीनों की हाय किस पर पड़ेगी, यह खून किसके गरदन पर होगा ?" तब वह काँप उठती है और कहने लगती है "यदि यह हाल है तो आप वही कीजिये जो न्याय और सत्य कहे। मैं गरीबों की आह नहीं लेना चाहती ('प्रेमाश्रम'—पृ० २४०)।"

स्त्रियाँ प्रेम करना भी जानती हैं और उसे छिपाना भी। पहले तो 'निर्मला' अपने स्वाभाविक स्नेह की प्रेरणा में पड़कर 'मनसाराम' से अत्यन्त कोमल वाणी में कहती है "मेरे कहने से चलकर थोड़ा-सा खा लो। तुम न खाओगे तो मैं भी जाकर सो रहूँगी...।" इतने ही में 'मुंशी तोताराम' को आते देखती है तो तुरन्त कमरे से निकल जाती है और कठोर स्वर में बोल उठती है "मैं लौंडी नहीं हूँ कि इतनी रात तक किसी के लिए रसोई के द्वार पर बैठी रहूँ। जिसे न खाना हो वह पहले ही कह दिया करे ('निर्मला'-पृ० १०७)।" इस प्रकार के प्रेम-परिगोपन का एक मात्र कारण यही था कि 'तोताराम' उन दोनों पर विश्वास नहीं करते थे—उनके पारस्परिक स्नेह से सशंक बने रहते थे। जवान पत्नी वाले बूढ़े की यह एक स्वाभाविक दुर्बलता है।

शरारत करना, जो चिढ़े उसे चिढ़ाना, बाल-स्वभाव का एक परिपुष्ट अंग है। मिठुआ, जगधर को देखते ही गा-गाकर चिढ़ाने लगता है—

"लालू का लाल मुँह, जगधर का काला,
जगधर तो हो गया लालू का साला।"

भैरो को भी वह इसी तरह सुनाता है—"भैरो भैरो ताड़ी बेच, या बीबी की साड़ी बेच ('रंगभूमि'—पृ० ८६)।"

लेकिन जब इसी बात पर वह "दो तमाचे" खाता है तब 'सूरदास' गुस्से में आकर कहता है "मिठुआ, चिढ़ा तो, देखूँ यह क्या करते हैं।" उसके लाख बढ़ावा देने पर भी जब मिठुआ फिर चिढ़ाने की हिम्मत नहीं करता तब वह झुँझलाकर कहता है "अच्छा, मैं ही चिढ़ाता हूँ, देखूँ, मेरा क्या बिगाड़ लेते हो—भैरो भैरो ताड़ी बेच, या बीबी की साड़ी बेच ('रंगभूमि'-पृ० ६१)।" असहाय और निर्बल प्राणी के दुर्बल क्रोध का कैसा मार्मिक चित्रण है! जिसमें शांति और सहिष्णुता कूट-कूटकर भरी हुई है वह भी अपने बच्चे को दूसरे से मार खाकर रोते नहीं देख सकता। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। बड़ा-से-बड़ा आदर्शवाद भी इस यथार्थवाद की उपेक्षा नहीं कर सकता।

प्रेमचन्दजी बराबर इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक सत्य

का आश्रय ग्रहण किये चलते हैं। मनस्तत्त्व की

मनस्तत्त्व की मनोवैज्ञानिक व्याख्या

मनोवैज्ञानिक व्याख्या करना इनकी चरित्रचित्रण-कला का एक मुख्य काम होता है। किससे, कब, किस तरह, कैसी बातें कहने से क्या असर पड़ेगा, किस स्थिति में किसके मन की अवस्था कैसी रहती है, आदि बातों की मनोवैज्ञानिक जानकारी का अभाव इनके पात्रों में नहीं रहता। सौदा बेचनेवाला जानता है कि सहृदयता से भरे हुए शब्द ग्राहकों पर—विशेषकर स्त्रियों पर—चोट किये बिना नहीं रहते और इससे सौदा पटाने में सफलता मिलती है। 'जालपा' की माँ जब बिसाती से कहती है "यह तो बड़ा महँगा है। चार दिन में इसकी चमक-दमक जाती रहेगी।"—तब वह बड़े "मार्मिक भाव से सिर हिलाकर कहता है—बहूजी, चार दिन में तो बिटिया को असली चन्द्रहार मिल जायगा।" जालपा की माता के "हृदय पर इन सहृदयता से भरे शब्दों ने चोट की। हार ले लिया गया ('गबन' पृ०—२)।"

'प्रेमाश्रम' के 'राय कमलानन्द' अपने दामाद 'ज्ञानशंकर' के हृद्गत भावों की थाह लेना चाहते हैं, उसकी क्षुद्रता और स्वार्थपरता का तमाशा देखना चाहते हैं, तो

उससे 'प्रेमशंकर' के सम्बन्ध में बातचीत करते हुए कहते हैं "संभव है मेरी शंका निर्मूल हो, पर मेरा अनुभव है कि विदेश में बहुत दिनों तक रहने से प्रेम का बन्धन शिथिल हो जाता है।" उनके मुख से इतना सुनकर 'ज्ञानशंकर' अपने भावों को छिपा नहीं सकता—"खुलकर बोल उठता है—मुझे भी यही भय है। जब ६ साल में उन्होंने घर पर एक पत्र तक नहीं लिखा तो विदित ही है कि उनमें आत्मीयता का आधिक्य नहीं है।" रायसाहब फिर चिकूटी काटते हैं—"कहीं उन्होंने गत वर्षों के मुनाफे का दावा कर दिया तो आप बड़ी मुश्किल में फँस जायँगे।" बस, इतनी ही-सी बात ज्ञानशंकर' को बेचैन बना देती है (प्रेमाश्रम'—पृ० १६०)।

'सेवासदन' वाली 'सुमन' पति के घर से निकल चुकी है। अब वह स्वच्छन्दतापूर्वक अपनी उन दुष्कामनाओं को पूर्ण कर सकती है जिनके लिए उसका मन बरसों से लालायित होता आ रहा है। पर आत्मसम्मान का कुछ अंश अभी उसमें शेष है, इसीलिए 'हिरिया' नाम की एक दुष्ट स्त्री का आश्रय वह नहीं ग्रहण कर सकती; अभिलाषाओं के द्वार पर पहुँचकर भी भीतर प्रवेश नहीं करती। लज्जा, खेद, घृणा, अपमान—ये सब-के-सब उसके पैरों में बेड़ी

डाल देते हैं। उसकी मानसिक अवस्था उस बालक की-सी हो जाती है जो किसी गाय या बकरी को दूर से देखकर प्रसन्न होता है पर उसके निकट आते ही भय से मुँह छिपा लेता है ('सेवासदन'—पृ० ४८)। किन्तु, 'सुभद्रा' के घर से चली आने के बाद, जब वह 'भोली बाई' वेश्या के घर पहुँचती है, तब उसका आत्मसम्मान लुप्त हो जाता है, एक स्वाभाविक संकोच ही भर बच रहता है। वेश्या-वृत्ति ग्रहण करते हुए उसकी दशा हो जाती "उस लोभी डॉक्टर की-सी जो अपने किसी रोगी मित्र को देखने जाता है, और फीस के रुपये अपने हाथों से नहीं लेता—संकोच-वश कहता है, इसकी क्या जरूरत है। लेकिन जब रुपये जेब में डाल दिये जाते हैं, तो हर्ष से मुस्कुराता हुआ घर की राह लेता है ('सेवासदन'—पृ० ६०)।" जो दुष्कामना सुदृढ़ आत्मसम्मान से भयभीत होकर भाग जाती है उसी के आगे असहाय संकोच पराजित हो जाता है—इसका कितना बढ़िया चित्र प्रेमचन्दजी ने खींचा है! इस तरह के मानसिक द्वन्द्वों को अंकित करने में ये कमाल करते हैं। जो आदमी जीवन भर दुष्कर्म करके उसके द्वारा अपनी अभीष्ट-सिद्धि में सफल नहीं हो पाता उसकी एक ऐसी अवस्था आती है जब वह न तो जीवित रह सकता

है और न मारना ही चाहता है। ग्लानि उसके जीवन को धिक्कारती है, भोग-विलास की रँगीली अवधि के अंत का निश्चय उसे मृत्यु से डराता है। 'ज्ञानशंकर' जब ऐसी ही स्थिति में आ पड़ता है तब भीतर-ही-भीतर तड़पता हुआ कहता है "मरना तो नहीं चाहता, पर जीऊँ कैसे ? हाय, मैं जबरन मारा जा रहा हूँ !" यह मानसिक उद्वेग इतना असह्य हो उठता है कि वह जोर से रो पड़ता है ! चेतनावस्था में वह अपने आप को जल निमग्न नहीं कर सकता—"एक अचेत शून्य दशा में" उठता है और गंगा में कूद पड़ता है ('प्रेमाश्रम'—पृष्ट ६४८)! पापमय जीवन का कितना मार्मिक अंत है कितना करुण, कितना स्वाभाविक !

कच्चा चोर अपने आपको छिपा नहीं सकता, अपने मानसिक उद्वेगों को दबा रखने की क्षमता उसमें नहीं होती। इसीसे 'निर्मला' जब "सवेरे जलपान लेकर स्वयं 'जियाराम' के पास पहुँची तो वह उसे देखकर चौंक पड़ा। रोज तो भुन्गी आती थी। आज यह क्यों आ रही है। 'निर्मला' की ओर ताकने की उसकी हिम्मत न पड़ी।" जब 'निर्मला' उससे पूछती है "रात को तुम मेरे कमरे में गये थे ?" तब देखिये, किस मनोवैज्ञानिक सचाई के साथ वह उत्तर देता

है—"मैं ? भला मैं रात को क्या करने जाता। क्या कोई गया था ?" इतना ही कहकर वह मौन नहीं हो जाता, अपने को निरपराध सिद्ध करने की चेष्टा करते हुए कहता है "मैं तो रात को थियेटर देखने चला गया था। वहाँ से लौटा तो एक मित्र के घर लेट रहा।......जिससे चाहें पूछ लें। हाँ भाई, मैं बहुत डरता हूँ ऐसा न हो कोई चीज गायब हो गई हो तो मेरा नाम लगे!" ऐसे चोर, अपने को साधु सिद्ध करने के उद्देश्य से, बड़ी तत्परता के साथ, स्थिति और घटना का विश्लेषण भी करने लगते हैं—चोर और माल का भी पता लगाने को वे स्वयं, और सब से पहले, प्रस्तुत हो जाते हैं। तभी तो जियाराम कहता है "खूब अच्छी तरह तलाश कर लिया है ! चलिये, मैं तो देखूँ। आखिर ले कौन गया ? चोर आया किस रास्ते से ? आप लोग सो भी तो जाती हैं मुर्दों से बाजी लगाकर ('निर्मला'—पृ० २२८)।"

इसी तरह, स्थिति और प्रकृति के अनुसार मनुष्य के मन में कब किस प्रकार की हलचल उठ खड़ी होती है और शारीरिक चेष्टाओं, शब्दों तथा कार्यों-द्वारा उसकी अभिव्यक्ति कैसे की जाती है, इस बात को प्रेमचन्दजी इतनी सुगमता और सुन्दरता से बताते चलते हैं कि उसमें

हमें किसी भी प्रकार की अवास्तविकता या अस्वाभाविकता का सामना नहीं करना पड़ता।

इनकी शील-निरूपण की प्रणाली एक बात की ओर अनायास ही हमारा ध्यान आकृष्ट कर लेती है। वह है इनके पात्रों की चरित्र-परम्परा। इनके पात्र आदर्श, सिद्धांत तथा मनोवृत्ति के नाते, सभी उपन्यासों में प्रायः एक ही-से होते हैं। स्त्री पात्र हों या पुरुष पात्र, हिन्दू हों चाहे मुसलमान, साधु स्वभाववाले हों या दुष्ट प्रकृति के—इनमें से जिस किसी का भी शील-स्वभाव मिलाइये, करीब-करीब इनके सभी उपन्यासों में एक ही ढर्रे पर चलता हुआ पाइयेगा। 'सेवासदन' मे मदनसिंह पहले तो 'शान्ता' को ग्रहण करना पाप समझते हैं, उसके कारण अपने बेटे तक से असहयोग कर लेते हैं, लेकिन अन्त में सन्तानप्रेम-द्वारा पराजित हो जाते हैं। 'प्रेमाश्रम' में प्रभाशंकर की "प्रतिज्ञा तो थी कि जीते जी उसका (दयाशंकर का) मुँह न देखूँगा ('प्रेमाश्रम'—पृ० ५९६)" किन्तु उसके पास पहुँचते ही मन इतना व्याकुल हो उठा कि "हाय! बेटा, कहकर उसकी (दयाशंकर की) छाती से चिमट गये ('प्रेमाश्रम'—पृ० ६०५)।" 'कायाकल्प' में मुंशी वज्रधर

पात्रों की चरित्र-परम्परा

पहले तो चक्रधर से दृढ़तापूर्वक कहते हैं—"अहल्या मेरी कुलदेवी नहीं हो सकती, चाहे इसके लिए मुझे पुत्र-वियोग ही सहना पड़े ('कायाकल्प'—पृ० ३३९)।" लेकिन उसी 'अहल्या' के साथ, उनकी इच्छा के विरुद्ध, जब 'चक्रधर' व्याह कर लेता है और उसे लेकर घर लौटता है तो "मुंशी जी दौड़कर उसे छाती से लगा" लेते हैं और "स्नेह-कोमल शब्दों में" कहते हैं—कम-से-कम एक तार तो दे देते कि मैं इस गाड़ी से आ रहा हूँ। खत तक न लिखा। यहाँ बराबर दस दिन से दो बार स्टेशन पर दौड़ा आता हूँ और एक आदमी हरवक्त तुम्हारे इंतजार में बिठाये रहता हूँ कि न जाने किस गाड़ी से आ जाओ। कहाँ है बहू? चलो उतार लावें ('कायाकल्प'—पृ० ३५४)।" 'कर्मभूमि' में अमर के पिता समरकान्त भी पहले इसी प्रकार बेटे से तन जाते हैं, अन्त में झुक जाते हैं।

'प्रेमाश्रम' के 'प्रेमशंकर', थोड़ा-सा बदलकर, 'कायाकल्प' में 'चक्रधर' बना दिये गये हैं और 'कर्मभूमि' में 'अमरकान्त'। 'प्रेमाश्रम' के कादिर मियाँ की मुसलमानी हमें उतनी ही प्यारी लगती है जितनी 'कायाकल्प' के ख्वाजा महमूद की। 'कायाकल्प' के ख्वाजा महमूद तथा बाबू यशोदानन्दन की दोस्ती और 'कर्मभूमि' के सलीम तथा 'अमर' की दोस्ती

में क्या इतना अन्तर है कि हम उसे दो तरह की समझें ? 'निर्मला' की 'भुङ्गी' और 'कर्मभूमि' की 'सिल्लो' के शील-स्वभाव में कोई भिन्नता है ? स्त्री-स्वभाव का चित्रण भी इन्होंने सब जगह प्रायः एक ही ढर्रे पर किया है। 'कर्मभूमि' की 'सुखदा' के स्वभाव में वही तीक्ष्णता है जो 'रंगभूमि' की 'इन्दु', 'प्रतिज्ञा' की 'सुमित्रा' और 'निर्मला' की 'कल्याणी' के स्वभाव में—कम-से-कम अपने-अपने पति के साथ तो इनके बातचीत, रोष-मान, प्रेम-कलह आदि के रूप एकही-से हैं।

इस प्रकार की चरित्र-परम्परा ने इनके असाधारण पात्रों और साधारण पात्रों के चरित्र-चित्रण की प्रणाली अलग-अलग कर दी है। इनके जो पात्र असाधारण गुण-दोषवाले हैं उनके स्वभाव को एक निर्धारित सीमा के भीतर ही रहना पड़ता है और जो साधारण वर्ग के हैं उनके स्वभाव की विकास-धारा में निस्सीम गति है—उनके स्वभाव-चित्र कई जगहों पर नाचते हुए, कई रूपों में कई प्रकार के रंगों से रँगकर, हमारे सामने आते हैं। प्रेमशंकर, विनय, सूर, चक्रधर, अमर, शान्ति-कुमार, ज्ञानशंकर, जॉनसेवक, माहिर अली, कादिर खाँ, ख्वाजा महमूद, सोफ़िया, रानी जाह्नवी, मनोरमा आदि अत्यन्त उच्च या अत्यन्त नीच विचारवाले स्त्री-पुरुषों के

चरित्र-चित्रण में कुछ बँधे-बँधाये उपकरणों से ही काम लिये गये हैं। किन्तु लाला प्रभाशंकर, कुँवर भरत सिंह, मुंशी वज्रधर, लाला समरकान्त, होरी, सलीम, सिल्लो, लौंगी सुखदा, सुमन, धनिया आदि साधारण वर्ग की नर-नारियों के चरित्र का विकास बराबर आप ही आप—बिना किसी प्रकार की बाहरी सहायता के—होता गया है। इसीसे, प्रेमचन्दजी के जो पात्र जितने ही कम असाधारण हैं वे उतने ही अधिक आकर्षक और प्रभावोत्पादक हैं।

पात्रों के चरित्र का प्रभाव

इनके उपन्यासों के पात्र, चाहे वे साधारण वर्ग के हों या असाधारण वर्ग के, अपने चरित्र का जो प्रभाव पाठकों के मन पर छोड़ जाते हैं वे जितने ही सुदृढ़ होते हैं उतने ही स्थायी भी। उनके चरित्र के गुण-दोष हमारे अपने चरित्र के गुण-दोषों के साथ एक प्रकार की आत्मीयता का भाव प्रदर्शित करते हुए-से दीख पड़ते हैं। इसी से उनमें हमारे हृदय को प्रभावान्वित करने की क्षमता का अभाव नहीं रहता। इनके पात्र जहाँ रोते हैं, वहाँ हमें भी रोना पड़ता है; जहाँ वे हँसते हैं वहाँ हमारी प्रसन्नता भी नाच उठती है जहाँ हम उन्हें अपने उच्च आदर्शों पर आत्म-बलिदान करते देखते हैं, वहाँ हमारा

हृदय पवित्र भावनाओं और निर्मम अभिलाषाओं से भर जाता है। जहाँ हम उन्हें अपनी दुष्कामनाओं की आग में जलते देखते हैं, वहाँ सहानुभूति के आवेग में हमें स्वतः बह जाना पड़ता है। इनके अच्छे पात्र हमारी अच्छाइयों को बढ़ाते हैं, बुरे पात्र हमारी बुराइयों को घटाते हैं। यही इनकी चरित्रचित्रण-कला का सबसे बड़ा महत्त्व है।

कथोपकथन का प्रयोग

घटनाओं को प्रगतिशील बनाना तथा पात्रों के शील-स्वभाव पर पूरा-पूरा प्रकाश डालना ही कथोपकथन का मुख्य उद्देश्य होता है। इसके द्वारा वस्तु-विधान तथा शील-निरूपण की प्रणाली में सुगमता, सरसता तथा मनोरंजकता की अभिवृद्धि होती है। जिस उपन्यास में विवरण की जितनी ही न्यूनता और वार्त्ता की जितनी ही अधिकता रहेगी वह उतना ही अधिक आकर्षक और मनोरंजक होगा। इसका कारण यही है कि बातचीत से हम कभी

उद्देश्य और महत्त्व

नहीं थकते—यदि वह व्यर्थ और नीरस न हो। थकावट तो वहाँ मालूम होने लगती है जहाँ श्रम और संतोष से काम लेने की आवश्यकता आ पड़ती है। बातचीत में सुविधा भी मिलती है, रस भी मिलता है। विवरण चाहे कितना ही रसात्मक हो कुछ-न-कुछ श्रमसाध्य-सा अवश्य प्रतीत होता है। रोचक-से-रोचक विवरण भी हमारे औत्सुक्य तथा आनन्द को रोकता हुआ चलता है, मनोरंजक वार्त्तालाप में उन्हें उभारते चलने की शक्ति रहती है। एक के साथ हमारे मन को सम्हल-सम्हलकर चलना पड़ता है, दूसरे के साथ वह सरल गति से हँसता-खेलता हुआ चला चलता है। प्रेमचन्दजी उपन्यास-पाठकों की इस मानसिक अवस्था से पूर्ण परिचित हैं। इसीसे, इनके उपन्यासों में विवरण के अंश कम रहते हैं, वर्त्तालाप के अंश अधिक।

इनके उपन्यासों में कथोपकथन का मुख्य उद्देश्य पात्रों के चरित्र की मनोरंजक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या करना ही होता है। घटना को प्रगतिशील बनाने या उसके स्वरूप को बदल देने का काम पात्रों की मनोवृत्ति स्वयं कर लेती है, उनके कथोपकथन से उसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं रहता। इनके पात्रों का पारस्परिक वार्त्तालाप अधिकतर वहीं किसी प्रकार की नवीन घटना या स्थिति

का सृजन कर सकता है जहाँ वह उनके (पात्रों के) किसी प्रकार के स्वाभाविक भावावेश को उत्तेजित करने का अवसर पा जाता है। इसके अतिरिक्त, और-और स्थलों पर, या तो उसका सीधा सम्बन्ध वस्तु-विधान के साथ रहता ही नहीं, या थोड़ा-बहुत रहता भी है तो केवल इसी नाते कि वह पात्रों की मनोवृत्ति को प्रभावित कर सकता है। 'सेवासदन' में 'सुमन' और उसके स्वामी 'गजाधर' की बातचीत उनके स्थिति-परिवर्त्तन के साथ परोक्ष सम्बन्ध भी रखती है और अपरोक्ष भी। वह बातचीत जहाँ 'गजाधर' के रोष को उभारती है वहाँ 'सुमन' की मनोवृत्ति पर भी अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहती। "जानी है कि खड़ी गालियाँ देती है ?" पति के मुँह से इतना सुनते ही वह (सुमन) बोल उठती है "अच्छा लो, जाती हूँ।" 'गजाधर' अपने रोष के आवेग को नहीं रोक सकता, और इसीसे, जब वह "दरवाजे की तरफ एक कदम" बढ़ाती है तब वह कह देता है "अपने गहने कपड़े लेती जा, यहाँ कोई काम नहीं है।" यही वाक्य सुमन के "टिमटिमाते हुए आशा रूपी दीपक को बुझा" देता है; वह घर से निकल जाती है ('सेवासदन'—पृ० ४७)। इसी वार्त्तालाप के परिणाम-स्वरूप 'सुमन' और 'गजाधर' दोनों की जीवन-

स्थिति सर्वथा भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण कर लेती है। 'निर्मला' में 'उदयभानु' तथा उनकी स्त्री 'कल्याणी' का वार्त्तालाप भी इसी प्रकार का है :—

उदयभानु—तो मैं क्या तुम्हारा गुलाम हूँ ?

कल्याणी—तो क्या मैं तुम्हारी लौंडी हूँ ?

उदय०—ऐसे मर्द और होंगे जो औरतों के इशारो पर नाचते हैं।

कल्या०—तो ऐसी स्त्रियाँ भी और होंगी जो मरदों की जूतियाँ सहा करती हैं ('निर्मला'—पृ० १७)।

इसी तरह, धीरे-धीरे, बातचीत का रूप बदलते-बदलते इतना बदल जाता है कि दोनों ही क्षुब्ध हो उठते हैं। 'कल्याणी' का क्षोभ तो अपने बच्चे (सूर्यभानु) की प्यार-भरी तुतली बोली—"पुकालता तो ता, तुम छुनती ही न तीं। बताओ, अब तो तबी न दाओगी"—सुनकर नष्ट हो जाता है, किन्तु 'उदयभानु' इसका किसी तरह शमन नहीं कर सकने के कारण घर से चल खड़े होते हैं, और फिर कभी लौटकर नहीं आ पाते! 'कल्याणी' का संसार देखते-ही-देखते बदल जाता है, भीषण अन्धकार में डूब जाता है! यही अन्धकार आगे चलकर बेचारी 'निर्मला' के जीवन का सर्वनाश कर देता है ('निर्मला'—पृ० २१)! 'प्रेमाश्रम'

में भी, लखनपुर वाले किसानों के स्थिति-वर्त्तन का बहुत कुछ कारण 'गिरधर' (कारिन्दा) और 'मनोहर' (किसान) की गरमागरम बातचीत ही है :—

मनोहर—न कारिन्दा कोई काटू है न जमींदार कोई हौवा हैं। यहाँ कोई दबैल नहीं है। जब कौड़ी-कौड़ी लगान चुकाते हैं तो धौंस क्यों सहें ?

गिरधर—सरकार को अभी जानते नहीं हो।... चंगुल में एकबार आ जाओगे तो फिर निकलते न बनेगा।

मनोहर—अच्छा, जाओ तोप पर उड़वा देना। (प्रेमाश्रम'—पृ० ६)

इसी बातचीत के फलस्वरूप मनोहर को जमींदार (ज्ञानशंकर) के आगे उपस्थित होना पड़ता है। उनका अन्यायपूर्ण दुराग्रह देखकर वह वहाँ भी "तेवर बदल कर" बोलता है—"दादा ! इस दरबार से अब दया-धरम उठ गया। चलो, भगवान की जो इच्छा होगी वह होगा। जिसने मुँह चीरा है, वह खाने को भी देगा (प्रेमाश्रम'—पृ० २७)।" जमींदार का रोष बढ़ जाता है, लखनपुर वालों पर "इजाफा लगान का दावा" करने की बात यहीं से उठ खड़ी होती है—उपन्यास की मुख्य घटना-धारा यहीं से पूरे वेग के साथ चल पड़ती है। साथ ही

इसी जगह घटना से सम्बन्ध रखनेवाले प्रमुख पात्रों की मनोवृत्ति का भी हमें थोड़ा-बहुत परिचय मिल जाता है।

अपने सभी उपन्यासों में कथोपकथन के उद्देश्य की रक्षा और पूर्ति ये इसी रूप में करते चलते हैं। घटना को आगे बढ़ाने में वह सहायता प्रदान करे या न करे, पात्रों की प्रवृत्ति का साथ कभी न छोड़े—इस पर इनका ध्यान अपेक्षाकृत अधिक रहता है। इसीसे इनके पात्रों की बातचीत मनोवैज्ञानिक रोचकता के अभाव से बची रहती है। इनकी उपन्यास-कला के इस तत्त्व (कथोपकथन का) का महत्त्व भी इसी बात में है कि इसके द्वारा हम पात्रों के अन्तस्तल का पूर्ण पर्य्यवेक्षण कर सकते हैं, उनके भीतरी जगत की भली-बुरी बातें जान सकते हैं। यह इनकी कथा को ही चटकीला नहीं बनाता, इस बात का भी विश्वास दिलाता है कि इसका (कथोपकथन) कौशल-पूर्ण प्रयोग ही इनकी उपन्यास-कला का सब से बड़ा सौन्दर्य्य है।

स्वाभाविकता और उपयुक्तता

इनके (उपन्यास में) पात्रों की बातचीत अभिनयात्मक होती है और, उसमें स्वाभाविकता तथा उपयुक्तता की कमी नहीं रहती। विश्लेषणात्मक विवरण उपस्थित करते समय ये कहीं-कहीं भरती के शब्द अवश्य ले आते हैं,

किन्तु कथोपकथन इस प्रकार के दोष से बचा रहता है। इसका प्रयोग करते समय ये पात्रों के शील-स्वभाव स्थिति तथा अवसर का पूरा ध्यान रखते हैं—उनसे वैसीही बातचीत कराते हैं जो उनकी प्रकृति के प्रतिकूल न जँचे और न स्थिति तथा अवसर के अनुपयुक्त जान पड़े। कभी-कभी कथोपकथन की लम्बाई अवश्य बढ़ जाती है, फिर भी वह अस्वाभाविक, नीरस, भद्दा या अनुपयुक्त नहीं जान पड़ता। नीरसता का समावेश वहाँ अवश्य हो जाता है जहाँ वह लम्बे-लम्बे सैद्धान्तिक वाद-विवाद या व्याख्यान का रूप धारण कर लेता है। 'सेवासदन' के २६ वें परिच्छेद में, मदन सिंह और पद्म सिंह की बातचीत ने एक शुष्क विषय को लेकर लम्बी बहस का रूप धारण कर लिया है, इसीसे उसमें सरसता का अभाव है। ३८ वें परिच्छेद में कुँवर साहब के द्वारा दिये गये उनके साहित्य-ज्ञान का अनावश्यक परिचय ('सेवासदन'-पृ० २१७) पाठकों के लिए रुचिकर नहीं है और न (४४ वें परिच्छेद में) उनके द्वारा की गई "गुलामी" शब्द की व्याख्या ही ('सेवासदन'—पृ० २५८) किसी प्रकार का औपन्यासिक आनन्द प्रदान करनेवाली है। इसी उपन्यास के ४७ वें परिच्छेद में 'बोर्ड' के

सभासदों की वक्तृताएँ भी सर्वथा नीरस और अरोचक हैं। 'प्रेमाश्रम' में तो इस प्रकार के लम्बे-चौड़े भाषण और वाद-विवाद इतने अधिक आ गये हैं कि उनसे जी ऊब उठता है। 'इत्तहादी यतीमख़ाना' वाले सैयद ईजाद हुसैन जैसे स्वयं उपन्यास के लिए सर्वथा अनावश्यक हैं वैसे ही उनकी वक्तृता और बातचीत भी किसी प्रकार की औपन्यासिक रोचकता या विशेषता से कोई सम्बन्ध नहीं रखती—किसी काम की नहीं मालूम पड़ती 'गोदान' में भी बातचीत के रूप में बहुत-सी वक्तृताएँ कराई गई हैं जिनमें, स्वभावतः, औपन्यासिक रोचकता का पूरा-पूरा अभाव दीख पड़ता है।

किसी भी उपन्यास में वक्तृता और वाद-विवाद के बिना प्रेमचन्दजी का काम नहीं चलता। इसलिए, इनके प्रायः सभी उपन्यासों में इस प्रकार की थोड़ी-बहुत अरोचकता का भी समावेश हो ही जाता है, पर उसमें अस्वाभाविकता नहीं रहती।

जहाँ कथोपकथन-द्वारा, सूखे सिद्धान्तों का प्रतिपादन या किसी मत विशेष का प्रचार नहीं कराया जाता, केवल पात्रों का चरित्र-चित्रण ही किया जाता है, वहाँ सरसता और रोचकता का अभाव नहीं रहता। विभिन्न वर्ग, स्थिति

और प्रकृति के लोगों की भिन्न-भिन्न भावनाओं को उन्हीं के सुलझे हुए शब्दों में अभिव्यक्त कर देना और उसी अभिव्यक्ति के आलोक में उनके शील-स्वभाव से हमारी पूरी जान-पहचान करवा देना, प्रेमचन्दजी की कला का एक सहज सुन्दर कर्म है। हमारे समाज में जितने प्रकार के लोग रहते हैं, प्रायः उन सबके स्वभाव और आचार-व्यवहार से ये परिचित हैं। यही कारण है कि उनकी बातचीत इनकी कला को कर्म-दुरूहता का अनुभव नहीं करने देती। पद, मर्यादा, स्थिति और वर्ग के नाते इनके पात्र जितने ही साधारण होते हैं उनकी बातचीत में उतनी ही असाधारण मधुरिमा और मनोरंजकता रहती है। गरीब किसान आपस में कैसी मजेदार बातें कर रहे हैं, इसका नमूना लीजिये—

मनोहर—सुनते हैं अँगरेज लोग घी नहीं खाते।

सुक्खू—घी क्यों नहीं खाते। बिना घी दूध के इतना बूता कहाँ से होगा। वह मसक्कत करते हैं इसीसे उन्हें घी दूध पच जाता है। हमारे देसी हाकिम खाते तो बहुत हैं पर खाट पर पड़े रहते हैं। इससे उनका पेट बढ़ जाता है।

दुखहरन—तहसीलदार साहेब तो ऐसे मालूम होते हैं जैसे कोल्हू। अभी पहले आये थे तो कैसे दुबले-दुबले थे।

सुक्खू—रिसवत का पैसा देह फुला देता है।

मनोहर—यह कहने की बात है। तहसीलदार एक पैसा भी नहीं लेते।

सुक्खू—बिना हराम की कौड़ी खाये देह फूल ही नहीं सकती।

मनोहर—पटवारी की देह क्यों नहीं फूल जाती। चुचके आम बने हुए हैं ('प्रेमाश्रम'—पृ० २)।

दो जने आपस में किसी बात पर बहस कर रहे हैं, तीसरा उन दोनों को बारी-बारी उकसा रहा है। इन अपढ़ गँवारों की बातचीत में कितनी स्वाभाविकता और उपयुक्तता है—उससे हमारा कितना बढ़िया मनोवैज्ञानिक मनोरंजन होता है, उसपर ध्यान दीजिये—

बजरंगी—मार-पीट से नन्हा-सा लड़का तो बस में आता ही नहीं, औरत क्या बस में आयेगी।

भैरो—बस में तो आये औरत का बाप, औरत किस खेत की मूली है। मार से भूत भागता है।

बजरंगी—तो औरत भी भाग जायगी, लेकिन काबू में न आयेगी।

'नायक—बहुत अच्छी कही बजरंगी, बहुत पक्की कही, वाह! वाह!! मार से भूत भागता है तो औरत भी भाग

जायगी। अब तो कट गई तुम्हारी बात?

भैरो—बात क्या कट जायगी, दिल्लगी है? चूने को जितना ही कूटो, उतनाही चिमटता है।

नायक—क्यों बजरंगी, नहीं है कोई जबाब?

('रंगभूमि'—पृ० ११४)

प्रेमचन्दजी का यह 'नायकराम', परिहासात्मक अभिरुचि और आनन्द के नाते, इतना बढ़िया वार्त्तालाप करता है कि कहीं-कहीं रोकने पर भी हँसी नहीं रुकती। और, हमारी यह हँसी, यह प्रसन्नता, उसकी मनोवैज्ञानिक मनोवृत्ति से सम्बन्ध रखती है।

प्रेमचन्दजी के बनाये हुए गँवार नौकर-चाकर किस स्वाभाविक ढंग से बातें करते हैं, वह भी सुन लीजिये—

कहार—सरकार, इतना की नौकरी हमार कौन न होई। कहाँ तलक उधार बाढ़ी ले ले खाई। माँगत-माँगत थेथर होय गएन।

भालचन्द्र—मत बको, जाकर कुरसी लाओ।

कहार—सरकार मोर तलब दे दीन जाय। ऐस नोकरी मोसे न होई। कहाँ लो दौरी, दौरत दौरत गोर पिराय लगत है। ('निर्मला'—पृ० २९-३४)

इसी तरह की एक और बातचीत सुन लीजिये—

जालपा—तुम्हें कुछ काम धन्धे की खबर है कि मटरगश्ती ही करते रहोगे ?

कहार—तो का चार हाथ-गोड़ कर लेई, कामें से तो गवा रहिन । बाबू मेम साहब के तीर रुपया लेबे का भेजिन रहा ।

जालपा—कौन मेम साहब ?

कहार—जौन मोटर पर चढ़कर आवत हैं ।

जालपा—तो लाए रुपये ?

कहार—लाए काहे नाहीं । पिरथी के छोर पर तो रहत हैं, दौरत-दौरत गोड़ पिराय लाग ! ('ग़बन'—पृ० १४०)

अबोध बच्चों की बातचीत मे कितनी उत्सुकता, कितनी जिज्ञासा, भरी रहती है यह जानना हो तो सूरदास और मिठुआ की बाते सुनिये—

मिठुआ—दादा, अब हम रहेंगे कहाँ ?

सूरदास—दूसरा घर बनाएँगे ।

मि०—और जो कोई फिर आग लगा दे ?

सूर०—तो फिर बनाएँगे ।

मि०—और फिर लगा दे ?

सूर०—तो हम भी फिर बनाएँगे ।

मि०—और जो कोई हजार बार लगा दे ?

सूर०—तो हम हजार बार बनाएँगे।

मि०—और जो कोई सौ लाख बार लगा दे?

सूर०—तो हम भी सौ लाख बार बनाएँगे।

('रंगभूमि'—पृ० २१२)

बच्चों के साथ बूढ़े भी बच्चे ही बन जाते हैं। मिठुआ के प्रश्न तो बच्चों के प्रश्न हैं ही सूरदास के उत्तर भी ठीक वैसे ही हैं—किन्तु, वात्सल्य-रस में डूबे हुए, स्वाभाविक स्नेह से सने हुए! प्रश्न बच्चे का प्यारा भोलापन प्रदर्शित करनेवाले हैं, और उत्तर बूढ़े का प्यार!

पति-पत्नी के पारस्परिक संभाषण में प्रेम और मान के कैसे-कैसे कोमल उपकरण भरे रहते हैं, यह देखना हो तो इस बातचीत में देखिये—

रमा०—आखिर, कुछ मालूम भी तो हो, क्या बात हुई?

जालपा—बात कुछ नहीं हुई अपना जी है। यहाँ नहीं रहना चाहती।

रमा०—तुम्हें मेरी क़सम जो इस वक्त जाने का नाम लो।

जालपा ने इसके उत्तर में कहने को तो कह दिया "तुम्हारी क़सम की हमें कुछ परवा नहीं है" परन्तु, उस 'कसम'

की उपेक्षा वह न कर सकी। "बिस्तर के बंडल पर बैठ गई और बोली—तुमने मुझे क़सम क्यों दिलाई ?"

रमा०—इसके सिवा मेरे पास तुम्हें रोकने का और क्या साधन था ?

जलपा—क्या तुम चाहते हो कि मैं यहीं घुट-घुट कर मर जाऊँ ?

प्रेयसी के मुँह से मरने की बात सुनकर रामनाथ के कलेजे में एक चोट-सी लगती है और वह करुण स्वर में कहता है—"तुम ऐसे मनहूस शब्द क्यों मुँह से निकालती हो ? मैं तो चलने को तैयार हूँ। न मानोगी तो पहुँचाना ही पड़ेगा···('ग़बन'—पृ० ४९) ।"

इतना ही बहुत था। बुझती हुई आग में पानी पड़ गया। कसम ने आग बुझाई और और इस आत्म-समर्पण ने पानी का काम किया। देखते ही देखते जालपा के बिस्तर खुल गये ! वह नहीं जा सकी।

लगे हाथ यह भी देख लीजिए कि सपत्नियों की कलह-प्रियता का चित्र प्रेमचन्दजी कितनी सुन्दरता से खींचते हैं:-

वसुमती—हाँड़ियाँ चढ़ावें मेरे दुश्मन, जिनकी छाती फटती हो, मैं क्यों हाँड़ी चढ़ाऊं। उत्सव मनाने का बड़ा साध है तो नये बासन क्यों नहीं मँगवा लेतीं। अपने कृष्ण

से कह दें, गाड़ी भर बरतन भेज दें। क्या जबरदस्ती दूसरों को भूखों मारेगी ?

रोहिणी—जरा मुँह सम्हालकर बातें करो। देवताओं का अपमान करना अच्छा नहीं।

वसुमती—अपमान तो तुम करती हो जो व्रत के दिन यों बन-ठनकर अठलाती फिरती हो।

रोहिणी—मैं बनती-ठनती हूँ तो दूसरों की आँखें क्यों फूटती हैं।

वसुमती—तो और बनो-ठनो, मेरे अँगूठे से .।

('कायाकल्प'—पृ० ११८)

व्यवसाय-बुद्धि से सम्बन्ध रखनेवाली व्यावहारिक शिष्टता के बहाने मोहक वाग्जाल बिछाकर गाहकों को फँसानेवाले कुशल व्यापारियों की मनोवृत्ति का परिचय हमें गंगू की इन बातों से मिल जाता है:—"आइए बाबू जी, ऊपर आइए। बड़ी दया की! मुनीम जी, आप के वास्ते पान मँगवाओ। क्या हुक्म है बाबूजी, आप तो जैसे मुझ से नाराज हैं। कभी आते ही नहीं। गरीबों पर भी कभी-कभी दया किया कीजिए ('गबन—पृ० ७६)।"

उसके इस शाब्दिक सत्कार के उत्तर में जब रामनाथ कहता है "यहाँ हम ऐसे मजदूरों का कहाँ गुजर...। गाँठ

में कुछ हो भी तो!" तब हमें यह भी पता चल जाता है कि उधार खानेवाले गाहक अपने मतलब की बात किस तरह शुरू करते हैं।

जिस प्रकृति के पात्रों को जिस ढंग से बातें करनी चाहिए, प्रेमचन्दजी उनके मुँह से ठीक उसी प्रकार के शब्द निकलवाते हैं। मक्कार की बातें मक्कारी से भरी हुई होती हैं, सत्य-प्रिय की बातें सचाई से। क्रोधी साधारण बात-चीत में भी अपना क्रोध नहीं छिपा सकता, शांत प्रकृति वाले शब्दों ही द्वारा सहिष्णुता का आदर्श खड़ा कर देते हैं। इनके जो पात्र किसी 'तकियाकलाम' के बिना नहीं बोल सकते उनके लिए इसका भी प्रबन्ध ये कर देते हैं। 'रंगभूमि' के मि० ईश्वर सेवक बात-बात पर कहते हैं 'ईसू, मुझे अपने दामन में छुपा"; 'कायाकल्प' के मुंशी वज्रधर जब चाहते हैं तभी अपनी 'पुरानी तहसीलदारी" का हवाला पेश कर देते हैं; 'गबन' में भी एक इन्सपेक्टर साहब हैं जो "हलफ से कहता हूँ" कहे बिना एक वाक्य भी पूरा नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त, ये इस बात को भी कभी नहीं भूलते कि जो पात्र जिस प्रकार की भाषा में स्वाभाविक ढग से बोल सकते हों उनसे उसी प्रकार की भाषा का प्रयोग कराना चाहिए। इस बात का ये बराबर

ध्यान रखते हैं कि जो जिस शब्द का जिस ढंग से उच्चारण कर सकते हों उन्हें उसका उच्चारण वैसेही करने देना चाहिए। इनके अँग्रेजी पढ़े-लिखे पात्र हिन्दी के साथ, बीच-बीच में अँग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग करते चलते हैं, इनके बंगाली पात्रों की भाषा का रूप है "आपसे बड़ा भारी 'ब्लंडर' हुआ है × × जज भी कायदा को तोड़ दिया। × × फिर से मोकदमा की पेशी करेगा। × × अब इसमें कोई 'डाउट' नहीं है और यह सब आपका 'बंगलिंग' है...('ग़बन'—पृ० ४४५)।" इनके मुसलमान पात्र बराबर उर्दू में बातचीत करते हैं; अपढ़ पात्र 'धर्म' को 'धरम' और 'शास्त्रार्थ' को 'सासतरार्थ' कहते हैं; देहाती पात्र ग्रामीण शब्दों का प्रयोग करते हैं और छोटे-छोटे बच्चे तुतलाते हैं। सारांश यह कि कथोपकथन को अस्वाभाविकता, अवास्तविकता और अनुपयुक्तता से बचाये रखने के लिए ये उसके समस्त आवश्यक उपकरणों से काम लेते हैं।

रस-संचार की शक्ति और उसका उपयोग

एक बात और। इनके पात्रों की बातचीत में रस-संचार करने की शक्ति भरी रहती है। प्रसंगानुकूल होने के कारण, वे उखड़ी हुई और निर्जीव-सी नहीं होतीं। अपनी सजीवता और सरसता के बल पर वे पाठकों के मन में

आकर बस ही नहीं जातीं, उसे रस से भर भी देती हैं। दो सखियों की बातचीत सुनिये :—

सोफ़िया—(वे) आप की धार्मिक स्वाधीनता में तो बाधा नहीं डालते ?

इन्दु—नहीं, उन्हें इतना अवकाश कहाँ है ?

सोफ़िया—तब तो मै आपको मुबारकबाद दूँगी।

इन्दु—अगर किसी कैदी को बधाई देना उचित हो, तो शौक़ से दो।

सोफ़िया—बेड़ी प्रेम की ही तो ?

इन्दु—ऐसा होता, तो मैं स्वयं तुमसे बधाई देने का आग्रह करती। मैं बँध गई, वह मुक्त हैं।......उन्हें सब कामों के लिए फुर्सत है। अगर फुर्सत नहीं है तो सिर्फ यहाँ आने की। मैं तुम्हें चिताये देती हूँ, किसी देश-सेवक से विवाह न करना। ('रंगभूमि'—पृ० ६२, ६३)

इन शब्दों से इन्दु के अन्तस्तल की गंभीर वेदना फूटी पड़ती है और उसका प्रभाव पाठकों के हृदय पर भी पड़े बिना नहीं रहता। वहाँ भी करुणा और सहानुभूति की रस-धारा आप से आप बहने लगती है।

× × × ×

इन्द्रदत्त—सूरदास! हमलोग तुम जैसे ग़रीबों से

चन्दे नहीं लेते। हमारे दाता धनी लोग हैं।

सूर०—भैया, तुम न लोगे, तो कोई चोर ले जायगा। मेरे ऊपर इतनी दया करो।

इन्द्रदत्त—अगर देना ही चाहते हो तो कोई कुँआ खुदवा दो। बहुत दिनों तक तुम्हारा नाम रहेगा।

सूर०—भैया, मुझे नाम की भूख नहीं है। बहाने मत करो, ये रुपये लेकर अपनी संगत में दे दो। मेरे सिर से बोझ टल जायगा। ('रंगभूमि'—पृ० ६२९)

बातचीत बहुत ही साधारण है, किन्तु इसके भीतर जो भाव सन्निहित हैं वे कितने असाधारण, कितने अलौकिक, कितने उज्वल हैं! असहाय अन्धे की यह निर्मल निस्पृहता, अर्थ-वैराग्य की यह अनुपम भावना, लोक-हित की यह मधुर कामना, किसके हृदय को अपनी प्रभाव-सीमा के भीतर नहीं खींच लाती? किसके भीतर एक निर्मल भाव-धारा की सृष्टि नहीं कर देती?

× × × ×

हरिसेवक—सच? यह तुमने क्या किया? लौंगी कभी न आयेगी।

मनोरमा—आयेगी क्यों नहीं? न आयगी तो मैं जाऊँगी और उसे मना लाऊँगी।

हरिसेवक—तुम जाओगी ? रानी मनोरमा लौंगी कहारिन को मनाने जायेगी !

मनोरमा—मनोरमा लौंगी कहारिन का दूध पीकर बड़ी न होती तो आज 'रानी मनोरमा' कैसे होती ? ('कायाकल्प'— ४६२)

मनोरमा की ये बातें सुनकर हरिसेवक का ही "मुरझाया हुआ चेहरा" नहीं खिल उठता, पाठकों का हृदय भी एक प्रकार के आह्लाद से भर जाता है।

इनके उपन्यासों में कथोपकथन की सब से बड़ी बात यह है कि वह जिस भाव या रस से सम्बन्ध रखता है उसका सचार वह पात्रों के हृदय में भी करता चलता है और पाठकों के हृदय में भी। व्यंग्यपूर्ण बातें सुनकर हम फडक उठते हैं, विनोद की बातों से हमें गुदगुदी लगती है। प्रेम, करुणा, त्याग आदि के भावों की अभिव्यक्ति हममें कोमल और करुण भावनाओं की सृष्टि करती है और, घृणा, द्वेष, दम्भ, स्वार्थ आदि के भावों की अभिव्यक्ति बुरी भावनाओं की ओर से हमारा मन दूर हटा देती है।

कथोपकथन की इस रस-संचारिणी शक्ति का उपयोग ये केवल पात्रों की ही मनोवृत्ति को बदलने के उद्देश्य से

करते हैं, किन्तु, इस कौशल के साथ कि वह पाठकों के अन्तस्तल को भी छूती चले। जहाँ कहीं इन्हें किसी पात्र के स्वभाव, सिद्धान्त या कार्यकलाप में किसी प्रकार का परिवर्त्तन उपस्थित करना होता है वहीं ये उसके साथ की जानेवाली बातचीत के भीतर मन्द गति से बहती हुई रस-धारा को तीव्र कर देते हैं। बातें साधारण ही होती हैं, पर हृदय पर गहरी चोट करने वाली।

सुखदा—आपने शादी क्यों नहीं की डॉक्टर साहब?

शांतिकुमार—इसीलिए कि विवाह करके किसी को सुखी नहीं देखा।

सुखदा—परीक्षा करके देखा तो होता। आप तो दूर ही से डर गये।

शांतिकुमार—अब अगर चाहूँ भी, तो बूढ़ों को कौन पूछता है। ('कर्मभूमि'—पृ० २२८)

इस साधारण-सी बातचीत ने संयमी 'शांतिकुमार' का मानसिक संयम नष्ट कर दिया। वे भीतर-ही-भीतर अपने प्यारे शिष्य और मित्र अमरकान्त की बहन 'नैना' को चाहने लगे, वह उस समय वहीं थी। "ईश्वर वह दिन लाये कि मैं इस घर में भाभी के दर्शन करूँ" कहकर सुखदा चली गई, नैना भी चली गई! पर डॉक्टर

शांतिकुमार का "यौवन जाग उठा" और उन्हें मालूम होने लगा कि अब भी "नैना लल्लू को गोद में लिये जैसे उनके सम्मुख खड़ी थी ('कर्मभूमि'—पृ० ३०१)!" भीतर-ही-भीतर प्रेम-दाह में जलनेवाले इस संयमी ने आगे चलकर कई स्थलों पर नैना के प्रति आत्मीयता का भाव प्रदर्शित किया है। उसने एकबार तो "आहत कंठ से कहा—तुम अब चली जाओगी नैना?" ('कर्मभूमि'—पृ० ३१४) और दूसरी बार "तुम तो वहाँ जाकर मुझे भूल गई नैना, एक पत्र भी न लिखा ('कर्मभूमि'—पृ० ३४८)।"

सच तो यह है कि कथोपकथन ही प्रेमचन्दजी के उपन्यासों के प्राण हैं।
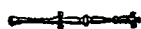
देश-काल का प्रतिबिम्ब

प्रेमचन्दजी के उपन्यास या तो सामाजिक समस्याओं से सम्बन्ध रखनेवाले होते हैं या राष्ट्र की चलती हुई राजनीतिक समस्याओं से। किन्तु समाज या राष्ट्र के किसी एक ही अंग को पकड़कर ये नहीं चलते। उसके भिन्न-

समाज के भिन्न-भिन्न अङ्गों तथा स्वरूपों का विश्लेषण

भिन्न अंगों तथा स्वरूपों का विश्लेषण करते हुए ये देश-काल का जो मार्मिक चित्र उपस्थित करते हैं उसमें इतिहास की सचाई भी रहती है और कला की सुन्दरता भी। हमारे घरेलू तथा सार्वजनिक जीवन के जितने भी अंग हैं, हमारे

जीवन-व्यापार के जितने भी क्षेत्र हैं, हमें अपने कार्य-क्षेत्र में जिन-जिन परिस्थितियों एवं घटनाओं का सामना करना पड़ता है, उन सभी बातों पर पूरा-पूरा प्रकाश डाले बिना इनकी कला एक पग भी आगे नहीं बढ़ती। उसका उद्देश्य ही यह रहता है कि वह हमें आस-पास की सभी वस्तुएँ दिखाती चले, उनके सम्बन्ध की सभी सच्ची-सच्ची बातें बताती चले। हमारे समाज में जितने प्रकार के लोग रहते हैं उन सबके आचार-विचार, रीति-रिवाज, रहन-सहन तथा उनकी जीवन-स्थिति से सम्बन्ध रखनेवाली अन्यान्य छोटी-मोटी बातों का सर्वांग सुन्दर वर्णन उपस्थित कर के, हमारे सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को संचालित करने वाली भिन्न-भिन संस्थाओं तथा उनकी कार्य-प्रणालियों की वस्तु-स्थिति का दिग्दर्शन कराके, अपने पाठकों को देश-काल सम्बन्धी सच्चे ज्ञान की सीमा के भीतर ले आना इनके उपन्यासों का एक आवश्यक कार्य होता है। सच तो यह है कि कोई भी कलाकार कला के इस लोकोपयोगी कार्य की उपेक्षा नहीं कर सकता। हम कहाँ हैं, क्या हैं, कैसे हैं, इसका वास्तविक ज्ञान प्राप्त किये बिना किसी भी प्रकार का समयोचित कर्त्तव्य निर्धारित नहीं किया जा सकता। और, जो कलाकार हमें इस काम में सहायता नहीं पहुँचाता

वह 'जीवन' के साथ जुड़े हुए 'कला' के सनातन सम्बन्ध की उपेक्षा करता है। कलाकार की विशेषता तो इसी बात में है कि वह हमारे इस ज्ञान-पथ को, अपनी कला के निर्मल आलोक से सुगम भी बना दे और सुखद भी। प्रेमचन्दजी सदैव ऐसा ही करते हैं। इसीसे इनके उपन्यास जितने मनोरंजक होते हैं, उतने ही ज्ञानवर्द्धक भी। उन्हें पढ़ते हुए हमें कलात्मक आनन्द का तो अनुभव होता ही है, साथ ही, यह जानने की सुविधा भी मिलती है कि हमारे समाज या राष्ट्र का कौन सा अंग कैसा है, उसके किस स्वरूप में किस प्रकार के परिवर्त्तन की आवश्यकता है।

इनके उपन्यासों की सब से बड़ी विशेषता यही है कि वे एकांगी नहीं होते। समाज और राष्ट्र से सम्बन्ध रखनेवाली थोड़ी-बहुत सभी प्रकार की बातों का उनमें समावेश रहता है। 'सेवासदन' में गार्हस्थ्य जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं का भी वर्णन है और उन बातों का भी जो सार्वजनिक जीवन के भिन्न-भिन्न कार्यों से सम्बन्ध रखती हैं। 'प्रेमाश्रम' में भिन्न-भिन्न प्रकार के पारिवारिक जीवन के चित्र हैं, किसानों और जमींदारों की अवस्था का विशद वर्णन किया गया है, वकीलों और

डॉक्टरों की नैतिक सचाई का स्वरूप दिखलाया गया है, संस्थाएँ खोलकर स्वार्थ-साधन करनेवाले लोगों के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। 'रंगभूमि' की कथा एक अंधे भिखारी की बात लेकर चलती है, किन्तु अन्त तक पहुँचते-पहुँचते वह हमें समाज का एक-एक अंग खोल कर दिखा देती है, उसके एक-एक स्वरूप का ज्ञान करा देती है। वह हमें भिन्न-भिन्न स्थिति, भिन्न-भिन्न प्रकृति, भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों तथा भिन्न-भिन्न आदर्शों की नर-नारियों का परिचय कराती है; गरीबों और अमीरों के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली नाना प्रकार की समस्याओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती है,। 'कायाकल्प' में भी गार्हस्थ्य जीवन के प्रायः सभी अंगों पर प्रकाश डाला गया है और साम्प्रदायिक झगड़े तथा किसान-आन्दोलन से सम्बन्ध रखनेवाली राजनीतिक घटनाओं का भी सजीव विवरण उपस्थित किया गया है। इसमें भी समाज के रंग-बिरंग के हँसते-बोलते चित्र पाये जाते हैं। 'ग़बन' में स्त्रियों के अत्यधिक आभूषण-प्रेम पर ही व्यंग्य नहीं किया गया है, आगे चलकर, कहानी-द्वारा हमें यह भी स्पष्ट दिखला दिया गया है कि जिनके हाथों में हमारे धन-जन की, प्राण-सम्मान की, रक्षा का भार है वे ही अपने दायित्व का

किस प्रकार दुरुपयोग करते हैं—किस प्रकार वे ही हमें निगल जाने का कुचक्र रचा करते हैं। 'कर्मभूमि' के प्रारंभिक पृष्ठों पर ही हम देख लेते हैं कि हमारी प्रचलित शिक्षा-प्रणाली की निस्सारता पर और शिक्षालयों के "दफ्तरी शासन" पर लेखक का कितना गहरा और सच्चा कटाक्ष है! कहानी एक विद्यालय के कमरे से ही निकलती है किन्तु ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ती चलती है त्यों-त्यों उसका आकार-प्रकार बढ़ता जाता है और अन्त तक जाते-जाते हमारे सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के प्रायः सभी मुख्य-मुख्य प्रश्नों को लाकर हमारे सामने खड़ी कर देती है। 'निर्मला', 'प्रतिज्ञा' और 'वरदान' छोटे हैं अवश्य, किन्तु इनमें भी हमारी सामाजिक स्थिति के जीते-जागते चित्र भरे पड़े हैं। 'गोदान' में ग्रामीण और नागरिक जीवन की अनेक रूपात्मक परिस्थितियों से सम्बन्ध रखनेवाले जिन छोटे-बड़े प्रश्नों पर प्रकाश डाला गया है उनकी भी उद्देश्य और प्रभाव की सीमा अपनी चतुर्दिक व्यापकता का ही परिचय देती है। सारांश यह कि इनके उपन्यासों-द्वारा हमें अपने सब प्रकार के जीवन की सम्पूर्णता, व्यापकता एवं वास्तविकता का पूरा-पूरा पता चल जाता है; हम अपने जीवन के एक-एक स्वरूप से, उसके एक-एक अंग

से पूर्णतया परिचित हो जाते हैं।

इनके उपन्यास सामयिक होते हैं, उनपर सामयिकता की गहरी छाप लगी रहती है। हमारे नीरव अतीत को ये अपनी कल्पना के आँगन में कभी नहीं बुलाते, बोलते हुए वर्त्तमान से ही हमारा साक्षात्कार कराते हैं। हमारे दैनिक जीवन की घटनाओं पर ही इनकी कला स्थिर रहती है, उन्हीं के आधार पर खड़ी होकर वह अपने स्वरूप का विकास करती है। कुछ लोगों का कहना है कि आज हम अखबारों में जिस घटना का वर्णन पढ़ते हैं, दो-ही-चार दिनों बाद उसी घटना को लेकर प्रेमचन्दजी कोई कहानी या उपन्यास तैयार कर लेते हैं। इस कथन में सत्यता का अभाव नहीं है, और न इससे प्रेमचन्दजी के महत्त्व में ही किसी प्रकार की कमी आ जाती है। अपनी कृतियों में अपने समय का सर्वांग सुन्दर चित्र उतारना यदि साहित्यिक अक्षमता है तो इसी अक्षमता के नाते प्रेमचन्दजी भारतीय कथा-साहित्य के संसार में आज अपने समय के सबसे बड़े विश्वस्त प्रतिनिधि कलाकार कहे जा सकते हैं। वर्त्तमान युग का, वर्त्तमान युग की गंभीर भावनाओं तथा समस्याओं का, इतना बड़ा व्याख्याता इस समय हमारे यहाँ कोई और नहीं देख पड़ता।

सामयिकता की छाप

अपनी रचनाओं-द्वारा हमारे वर्त्तमान राष्ट्रीय धर्म की जैसी मार्मिक और प्रभावोत्पादिनी व्याख्या इन्होंने की है वैसी अभी तक हमारे और किसी भी कलाकार ने नहीं की। सच तो यह है कि इनका प्रस्तुत किया हुआ साहित्य सामयिकता की छाप लिये हुए है, इसीसे उसकी आत्मा को हम अच्छी तरह पहचान सकते हैं, उसे जी खोलकर प्यार कर सकते हैं, उसके साथ अपनी अनुभूति का सामंजस्य संस्थापित कर सकते हैं।

कहा जाता है कि सामयिकता को अपने अस्तित्व का आधार बनाकर कला अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सकती। अतः, प्रेमचन्दजी के उपन्यास आज चाहे जो कुछ भी हों, कुछ दिनों बाद इनका कोई महत्त्व नहीं रह जायगा।

सामयिकता के भीतर कला की चिरन्तनता

जिन समस्याओं के सहारे आज इनका साहित्य खड़ा है, कल वे ही जब नहीं रह जायँगी तब इनका साहित्य भी निर्जीव होकर स्वयं गिर पड़ेगा। किन्तु हमारी धारणा कुछ और है। हम इनकी कला को क्षणिक नहीं समझते; हमें उसकी चिरन्तनता पर, उसके अमरत्व पर, पूरा विश्वास है। हम तो इनकी रचनाओं का महत्त्व इसी बात में मानते हैं कि वे सामयिक होकर भी सर्वकालीन हैं।

सामयिकता का आश्रय ग्रहण किये बिना कोई भी कला अपनी स्वाभाविकता और सजीवता का सच्चा प्रभाव नहीं अभिव्यक्त कर सकती; अपने समय का सच्चा चित्र खींचे बिना कोई भी कलाकर अपनी कला के द्वारा लोकधर्म का पालन नहीं कर सकता। संसार में आज तक कोई ऐसा भी कलाकार हुआ है जिसने अपनी रचनाओं को अपने समय का सच्चा प्रतिनिधित्व न सौंप दिया हो? शेक्सपियर के नाटकों में क्या उसके समय की बातें नहीं भरी पड़ी हैं? फ्रांस के लेखकों ने क्या फ्रांसीसी विप्लव का विश्लेषण अपनी-अपनी रचनाओं में नहीं किया है? रूस के कहानी-लेखकों तथा उपन्यासकारों की रचनाएँ क्या रूस की राज्य-क्रान्ति का चित्र उपस्थित नहीं करती? और ऐसा करने के कारण क्या अँग्रेज, फ्रांसीसी तथा रूसी कलाकारों की कृतियाँ महत्त्व-हीन समझी जाती हैं? आजकल की दुनिया में और जितने कलाकार हैं आखिर वे किन अपार्थिव समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं? उनकी रचनाओं में उनके देश-काल से सम्बन्ध रखनेवाली बातें नहीं रहतीं क्या? फिर केवल प्रेमचन्दजी ही इसके लिए क्यों अपराधी ठहराये जाएँ?

साहित्य में सामयिकता के लिए सदैव थोड़ा-बहुत

स्थान सुरक्षित रहता है, क्योंकि वह उसी समाज का प्रतिबिंब होता है जिसमें उसके कर्त्ता की काया पली है। उसके समय में उसका समाज जिस रूप में रहता है, अपनी रचनाओं में उसको उसी रूप में अभिव्यक्त करना उसका एक बड़ा भारी नैतिक दायित्व है। ऐसा करके वह अपने पाठकों को वस्तु-स्थिति का सच्चा ज्ञान प्राप्त कराता है, जनता की कर्त्तव्य-भावना को उत्तेजित करता है। प्रेमचन्दजी अपने उपन्यासों में सामयिक प्रश्नों पर बहुत अधिक प्रकाश इसलिए डालते हैं कि इनके पाठक अपने समय की वास्तविक स्थिति का ठीक-ठीक अध्ययन कर सकें। फिर भी यही इनके उपन्यासों का एक मात्र उद्देश्य नहीं है। जिन समस्याओं को लेकर ये अपनी उपन्यास-कला का निर्माण करते हैं वे सामयिक अवश्य होती हैं, किन्तु कला को स्थायित्व प्रदान करनेवाली बातें भी उनमें भरी रहती हैं। उसका आवरण आगे चलकर भले ही बदल जाय, उनके मूल तत्त्वों का तो कभी लोप नहीं हो सकता। समाज और राष्ट्र की ऊपरी समस्याओं पर ही इनकी कला टिकी हुई हो, सो बात नहीं, वह तो मानव-जीवन की आभ्यन्तरिक समस्याओं से भी सम्बन्ध रखती है। यही कारण है कि वह कभी गिर नहीं सकती, कभी मर नहीं सकती। विधवा-

विवाह तथा वृद्ध विधुर-विवाह की समस्याएँ चाहे आगे चलकर हमारे समाज में न रह जायँ किन्तु 'पूर्णा' और 'निर्मला' के नारी हृदय की तड़पती हुई वेदना तो सदा जीवित रहेगी। हिन्दू-मुसलमानों की लड़ाई, कुछ दिनों बाद, भले ही बन्द हो जाय, किन्तु 'कादिर' और 'मनोहर', 'ख्वाजा महमूद' और 'यशोदानन्दन' तथा 'सलीम' और 'अमर' की अनुपम मैत्री की आवश्यकता किसी न किसी रूप में बनी ही रहेगी; हमारी राजनीतिक स्थिति में चाहे हेर-फेर हो जाय, परन्तु समाज और राष्ट्र को उन उन्नत भावनाओं की आवश्यकता सदैव बनी रहेगी जो प्रेमशंकर, चक्रधर, सूरदास, जाह्नवी, जालपा आदि नर-नारियों के चरित्र को उज्ज्वल बनानेवाली हैं। और कुछ रहे या न रहे, पर मैना को "नोरा ! हमे भूल गई ? तुम्हारा पुराना सेवक हूँ" सिखानेवाला चक्रधर और "पिँजरे में बन्द दोनों चिड़ियों को सजल नेत्रों से" देखनेवाली मनोरमा के समान प्रेम विदग्ध नर-नारियों का अस्तित्व कौन मिटा सकता है ? जबतक इनके उपन्यासों मे मानव-हृदय की इन निगूढ़ भावनाओं को स्पर्श करने की क्षमता बनी रहेगी तबतक वे सामयिक होकर भी क्षणिक नहीं कहे जा सकते। और, इनके उपन्यासों में से इस क्षमता का

कभी लोप हो ही नहीं सकता, क्योंकि इसीने इन्हें सच्चा कलाकार बनाया है। जीवन की बाहरी और भीतरी दोनों प्रकार की समस्याओं के साथ इनकी कला का सम्बन्ध इतना पुष्ट है कि हमें इनकी रचनाओं के स्थायित्व पर किसी प्रकार की आशंका करने की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। बाहरी समस्याएँ चाहे रहें या चली जायँ, भीतरी समस्याओं का महत्व कभी कम न होगा। और, जबतक भीतरी समस्याओं का महत्त्व-पूर्ण अस्तित्व बना रहेगा, तबतक इनके साहित्य के महत्त्व पर किसी प्रकार का न्यायसंगत आक्रमण नहीं किया जा सकता।

एक बात और। इनका साहित्य आगे चलकर हमारे युग के इतिहास का भी काम करेगा। हमारी सामाजिक एवं राष्ट्रीय अवस्थाओं के स्वरूप-परिवर्त्तन की जो चेष्टाएँ की जा रही हैं उनसे हमारे जातीय इतिहास का भी स्वरूप बदल जायगा और आनेवाली पीढ़ी के लोग इन्हीं प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि आदि उपन्यासों के द्वारा हमारे युग की मूल प्रवृत्तियों का सच्चा परिचय प्राप्त करेंगे। यह संभावना भी इनकी कला के स्थायित्व का एक आधार है, और यह आधार इतना अबल नहीं है कि उपेक्षा के धक्कों से टूट जाय। सामयिक

भावों से भरा हुआ होकर भी इनका साहित्य अमर है, क्योंकि उसकी उपादेयता का सम्बन्ध केवल हमारे वर्त्तमान से ही नहीं, भविष्य से भी बँधा हुआ है। हमारा आज का संघर्षपूर्ण 'वर्त्तमान' हमारे आनेवाले कल का गौरवपूर्ण 'अतीत' बन जायगा और उसी के साथ-साथ आज की अपेक्षा और भी अधिक गौरवपूर्ण बन जायगा हमारे 'आज' से सम्बन्ध रखनेवाला हमारा साहित्य। अतएव, प्रेमचन्दजी की कला का एक निजी ऐतिहासिक महत्त्व है। इस महत्त्व का अनुभव अभी हम भले ही न करें, आगे चलकर, हमारे पीछे आनेवाले लोग अवश्य करेंगे।

अपने उपन्यासों में इन्होंने देश-काल का जो प्रतिबिम्ब उतारा है उस पर कहीं-कहीं काल-दोष की छाया भी आ पड़ी है। रानी 'देवप्रिया' तथा उसके जन्म-जन्मान्तर के 'जीवन-स्वामी' की बातें इतनी अद्भुत और अलौकिक हैं कि उन्होंने समूचे 'कायाकल्प' को काल-दोष का मंजूसा बना दिया है। "तिब्बत की तपोभूमि में आज भी ऐसी महान आत्माएँ हैं जो माया का रहस्य खोल सकती हैं ('कायाकल्प'—पृ० ६५)" इस बात की सचाई का पता आजकल के "जिज्ञासा

काल-दोष

की सच्ची लगन" रखनेवाले भी लगा सकेंगे या नहीं यह विचारने का विषय है। हर्षपुर की 'रानी कमला' को देखते ही 'शंखधर' अपने पूर्वजन्म की बातें बताने लगता है ('कायाकल्प'—पृ० ५६२)। उसकी यह 'अद्भुत क्षमता देखकर हम भी सोचने लगते हैं कि क्या यह हमारे समय का आदमी है? ऐसे लोग क्या आजकल भी मिलते हैं? यह तो एक आध्यात्मिक उद्भावना से सम्बन्ध रखने वाला काल-दोष हुआ। इसके अतिरिक्त और-और प्रकार के काल-दोष भी इनके उपन्यासों में पाये जाते हैं। 'प्रेमाश्रम' में लखनपुर वाले मामले की बात लीजिये। अदालत के सामने बिसेसर साह और डॉक्टर प्रियानाथ ने पहले कुछ कहा था, पीछे कुछ और कहा। किन्तु, इस प्रकार 'बयान' बदलने के अपराध में अदालत ने उन्हें कुछ नहीं कहा, उनकी कही हुई नई बातों को चुपचाप मान लिया और पुरानी को काट दिया! 'कर्मभूमि' में भी इन्होंने एक जगह ऐसा ही किया है। 'मुन्नी' को अपवित्र करनेवाले जिन गोरों को इतनी मार लगी कि उन्हें ढोकर ले चलने के लिए बैलगाड़ी की आवश्यकता आ पड़ी, उन्हीं को उन लोगों (अमर, सलीम और अर्जुन) ने "वहीं पुलीस के चार्ज में छोड़ दिया और

आप डाक्टर साहब (शांतिकुमार) के साथ गाड़ी पर बैठ कर घर चले ('कर्मभूमि'—पृ० ३५)।" आजकल की 'पुलीस' ने ऐसी स्थिति में उन्हें चुपचाप जाने कैसे दिया, यह बात समझ में नहीं आती! 'गोरों' पर घातक हाथ छोड़नेवाले 'काले' इतने सस्ते छूट जायँ यह तो आज कल की-सी बात नहीं मालूम पड़ती! इसी उपन्यास में इन्होंने 'सलीम' को बिना इँगलैंड भेजे ही ज्वायंट मैजिस्ट्रेट बना दिया है, और इसकी सफाई इस तरह दी है कि "जब सूबे का सबसे बड़ा डॉक्टर कह रहा है कि इँगलैंड की ठण्ढी हवा में इस युवक का दो साल रहना खतरे से खाली नहीं, तो फिर कौन इतनी बड़ी जिम्मेदारी लेता ('कर्मभूमि'-पृ० ३१६) ?" पर यहाँ विचारने की बात यह है कि जिसका स्वास्थ्य इतना संशयात्मक था, उसे आई० सी० एस० की परीक्षा में बैठने की आज्ञा कैसे मिल गई ? और, अगर उसका स्वास्थ्य परीक्षा के बाद झूठ-मूठ संशयात्मक बना लिया गया था, तो सरकार ने उस पर सहसा विश्वास कैसे कर लिया ? आई० सी० एस० वालों के लिए बहाने इतने सस्ते नहीं हुआ करते, वे इतनी असानी से मैजिस्ट्रेट नहीं बन जाते! इन बातों पर, इस विषय में, सरकार इतनी जल्दी विश्वास नहीं कर लेती। चाहे जैसे हो, आई०

बी० एस० वालों को, नौकरी पाने के पहले, कुछ दिनों के लिए इँगलैंड जाना ही पड़ता है।

किन्तु, इस प्रकार की छोटी-मोटी शैल्पिक भूल-चूक इनके उपन्यासों-द्वारा उपस्थित किये गये देश-काल के चित्रों को कलात्मक सौन्दर्य से अभिवञ्चित नहीं कर देती। उनकी सम्पूर्णता, सजीवता और सुन्दरता देखकर हमारा हृदय सच्ची साहित्यिक अनुभूति से भर जाता है। वे चित्र हमारे अपने जीवन के, अपने समय के और अपनी स्थिति के होते हैं। इसीलिये उनपर हमारा ममत्व रहता है, हमारी एक प्रकार की मधुर आस्था रहती है।

भाषा-शैली और भाव-व्यञ्जना

प्रेमचन्दजी की भाषा में हिन्दी और उर्दू दोनों ही के शब्द मिले रहते हैं, इसलिए वह बहुत ही चलती हुई होती है। ये न तो उसे सजाने के लिये कभी किसी प्रकार की कृत्रिमता से काम लेते हैं, न उसके प्रवाह पर किसी प्रकार का अस्वाभाविक नियन्त्रण रखते हैं। लोग आपस में साधारणतः जिस ढंग से बातचीत करते हैं, वही ढंग इनके लिखने का है। और, वह ढंग ऐसा है जिसमें कहीं-कहीं अँग्रेजी के भी शब्द आ मिलते हैं। "अमृतराय स्पीच सुनने में तल्लीन थे" ('प्रतिज्ञा'—पृ० १); "पुलीस के

भाषा की स्वाभाविकता

चार्ज में छोड़ दिया" ('कर्मभूमि'—पृ० ३५), "Vulgar शब्द ही इस आशय को व्यक्त कर सकता है ('रंगभूमि'—पृ० ५०४)" इस तरह के वाक्य इनके उपन्यासों में भरे पड़े हैं। निस्सन्देह, इससे भाषा का शुद्ध साहित्यक रूप विकृत हो जाता है और, इस नाते, यह बात अच्छी नहीं लगती कि हमारे कलाकार, मनमाने ढंगपर, विभिन्न भाषाओं के शब्दों की खिचड़ी पकाया करें। -उपन्यास में भाषा की स्वाभाविकता का ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है—आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य्य है। किन्तु जहाँ लेखक को स्वयं अपनी ओर से कुछ कहना हो वहाँ उसकी (भाषा की) स्वाभाविकता का यह स्वरूप नहीं होना चाहिए। आजकल के अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोग अँग्रेजी मिली हुई हिन्दी बोलते हैं, इसलिए 'दाननाथ' के "रटी हुई स्पीच है" कहने में भाषा की एक स्वाभाविकता है, एक प्रकार की अकृत्रिमता है और कथा-साहित्य में इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। हाँ, जब प्रेमचन्दजी कलाकार के नाते स्वयं अपनी ओर से हमें बताते हैं कि "अमृतराय स्पीच सुनने में तल्लीन थे" तब तो भाषा के साहित्यिक सौन्दर्य्य का यह आग्रह उचित जान पड़ता है कि यहाँ 'स्पीच' का स्थान बेचारे 'व्याख्यान' या 'भाषण' को दे दिया जाय।

लेकिन, प्रेमचन्दजी इसकी परवा शायद इसीलिए नहीं करते कि अँगरेजी के ये छोटे-छोटे शब्द अब अपना लिये गये हैं।

भाषा को स्वाभाविक बनाने के लिए जान-बूझ कर ये ऐसा करते हों, सो बात नहीं। सच तो यह है कि इनकी भाषा के निर्माण में इनके कौशलपूर्ण प्रयत्न की सतर्कता का कोई हाथ नहीं रहता। केवल विलक्षण शब्द-जाल फैलानेवाले हमारे कुछ 'कलाकारों' की तरह, ये भाषा को गढ़ते नहीं हैं, वह तो आप ही आप इनकी कलम से निकलती चलती है। देखिये—"गाड़ी चल दी, उस वक्त रमा को अपनी दशा पर रोना आ गया। हाय, न जाने उसे कभी लौटना नसीब भी होगा या नहीं। फिर यह सुख के दिन कहाँ मिलेंगे? यह दिन तो गये, हमेशा के लिये गये! इसी तरह सारी दुनिया में मुँह छिपाये, वह एक दिन मर जायगा। कोई उसकी लाश पर आँसू बहाने वाला भी न होगा। घरवाले भी रो धो कर चुप हो रहेंगे ('गबन'—पृ० २३१)।"

× × ×

"क्यों, हरज क्या है? मेरे ख्यालात तुम्हें मालूम हैं। यह केराये की तालीम हमारे कैरेक्टर को तबाह किये

डालती है। हमने तालीम को भी एक व्यापार बना लिया है। व्यापार में ज्यादा पूँजी लगाओ, ज्यादा नफा होगा। तालीम में भी ज्यादा खर्च करो, ज्यादा ओहदा पाओगे ('कर्मभूमि'—पृ० ६६)।"

यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रेमचन्दजी के हिन्दी भाषा-भाषी पात्रों की बातचीत में उस समय उर्दू के शब्द अपेक्षाकृत अधिक आ जाते हैं जब उन्हें उर्दू भाषा-भाषी पात्रों के साथ विचार-विनिमय की आवश्यकता आ पड़ती है। नहीं तो, डाक्टर शांतिकुमार, ऊपर लिखे वाक्यों में 'ख्यालात' के बदले 'विचार', 'ज्यादा' के बदले 'अधिक' और 'नफा' के बदले 'लाभ' कह सकते थे। पर क्या यह सच नहीं है कि हम पण्डितों के साथ 'विशुद्ध हिन्दी' और मौलवियों के साथ 'ख़ालिस उर्दू' बोलने को ललच उठते हैं? शांतिकुमार सलीम के साथ बातें कर रहे थे। अतएव, उस समय उनकी भाषा का यही रूप स्वाभाविक था। नहीं तो देखिये, यही महाशय सुखदा के साथ कितनी शुद्ध हिन्दी में बातें करते हैं—"पुरुष में थोड़ी सी पशुता होती है। वही पशुता उसे पुरुष बनाती है। विकास के क्रम में वह स्त्री से पीछे है। जिस दिन वह पूर्ण विकास को पहुँचेगा, वह भी स्त्री हो जायगा। वात्सल्य,

स्नेह, कोमलता, दया, इन्हीं आधारों पर यह सृष्टि थमी हुई है। और यह स्त्रियों के गुण हैं ('कर्मभूमि'—पृ० २६८)।" सारांश यह कि इनकी भाषा की स्वाभाविकता का स्वरूप इनके पात्रों की व्यावहारिक स्थिति एवं उनकी मनोवृत्ति के अनुसार आपही आप बदलता रहता है।

वस्तु, पात्र और देश-काल के साथ भाषा का मेल

इनकी भाषा की स्वाभाविकता का आधार है वस्तु, पात्र, और देश-काल के साथ उसका अटूट मेल। भाषा और विषय को मिलाये रखने की इनकी भावना इतनी प्रबल है कि पुस्तकों के नामकरण में भी ये इस बात का ध्यान रखते हैं कि उनके नाम उनकी समस्त कथा-वस्तु के परिज्ञापक हों। यही कारण है कि सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि, कायाकल्प आदि सुन्दर-सुन्दर हिन्दी नाम चुनने की क्षमता रखते हुए भी ये 'जालपा' और 'रमानाथ' की जीवन-कथा कहनेवाली पुस्तक का नाम 'ग़बन' छोड़कर और कुछ न रख सके। चाहते तो इसके बदले हिन्दी का कोई दूसरा नाम चुन सकते थे, पर वह ठीक इसलिए नहीं होता कि और कोई भी दूसरा नाम पुस्तक के विषय की व्याख्या इतनी तत्परता से नहीं कर सकता था। कथा-वस्तु का जैसा स्वरूप होगा, इनकी भाषा का

स्वरूप भी वैसाही होगा। यही कारण है कि इनके सभी उपन्यासों की भाषा सर्वथा एकही-सी नहीं कही जा सकती। 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' की भाषा में जो गंभीरता है, 'ग़बन' और 'कर्मभूमि' में उसका स्थान चंचलता ने ले लिया है। 'रंगभूमि' के भाषा-गांभीर्य्य का संरक्षक है सूरदास का आध्यात्मिक-संग्राम, 'कर्मभूमि' की भाषा का अनुशासन करनेवाला है अमर का उग्र आदर्शवाद। 'कायाकल्प' की भाषा 'रानी देवप्रिया' के जन्म-जन्मान्तर से सम्बन्ध रखनेवाले रहस्यों की व्याख्या करती चलती है, 'ग़बन' की भाषा का काम है जीवन के साधारण स्थिति-चित्रों का चित्रण करना। 'सेवासदन', 'निर्मला' और 'प्रतिज्ञा' की भाषा जिस गंभीर वेदना को व्यक्त करनेवाली है, उसका अनुभव 'प्रेमाश्रम' की भाषा नहीं करा सकती। विचार-पद्धति एवं भाव-साहचर्य्य की भिन्नता के कारण 'गोदान' की भाषा-शैली में भी अनेकरूपता का सुन्दर समावेश है। जिस कथा-वस्तु के भीतर जितनी ही अधिक गंभीरता और कोमलता रहती है, उसकी व्यञ्जना ये उतनीहीं गंभीर और कोमल भाषा में करते हैं। जहाँ उग्र भावों की व्यञ्जना करनी पड़ती है वहाँ इनकी भाषा आपसे आप ओजमयी हो उठती है। ओज, माधुर्य्य और प्रसाद

ये तीनों ही गुण इनकी भाषा में सर्वत्र पाये जाते हैं।

पात्रों के स्वभाव के साथ तो इनकी भाषा का स्वभाव इतना मिला-जुला रहता है कि उनकी पारस्परिक सम्बन्ध-सीमा में अस्वाभाविकता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। जैसा पात्र, उसकी वैसी ही भाषा। हिन्दू पात्रों की भाषा भिन्न होती है, मुसलमान पात्रों की भिन्न। बंगाली पात्रों की भाषा दूसरे ढग की होती है, गाँव के अपढ़ किसानों और मजदूरों की दूसरे ढंग की। इनके हिन्दू पात्र प्रायः इस तरह की भाषा का प्रयोग करते हैं "महाराज! क्षमा कीजियेगा, मैं आप का सेवक हूँ, पर रानी जी का भी सेवक हूँ। उनका शत्रु नहीं हूँ। आप और वह दोनों सिंह और सिंहनी की भाँति लड़ रहे हैं। मैं गीदड़ की भाँति अपने स्वार्थ के लिए बीच में कूदना अपमानजनक समझता हूँ ('कायाकल्प'—पृ० ६९)।" मुसलमान पात्र इस तरह बोलते हैं—"जब से हुजूर तशरीफ़ ले गये मैंने भी नौकरी को सलाम किया। जिन्दगी शिकम पर्वरी में गुज़री जाती थी। इरादा हुआ कुछ दिन क़ौम की खिदमत करूँ। इसी ग़रज से "अंजुमन इत्तहाद" खोल रक्खी है। उसका मक़सद हिन्दू-मुसलमानों में मेल जोल पैदा करना है। मैं इसे कौम का सबसे अहम मसला समझता हूँ।

आप दोनों साहब अगर अंजुमन को अपने क़दमों से मुमताज फरमाएँ तो मेरी खुशनसीबी है ('प्रेमाश्रम'—पृ० ३५०) ।" इनके गंगुली बाबू की भाषा का स्वरूप होता है—"हम समझा था, अब आप निर्द्वन्द्व हो गया होगा। पर देखता है, तो वह बेड़ी ज्यों का त्यों आपका पैरों में पड़ा हुआ है ('रंगभूमि'—पृ० ६२८) ।" जरा डिप्टी साहब की भाषा का भी नमूना देखिये—"अब क्या करने होगा खाँ साहब! चिड़िया हाथ से निकल गया ('ग़बन'—पृ० २६१) ।" अपढ़ 'मतई' की भाषा की सादगी पर ध्यान दीजिये—"फिर ऐसा कौन है जो हम गरीबों का दुख दरद समझेगा। जो कहो नौकरी चली जायगी, तो नौकर तो हम सभी हैं। कोई सरकार का नौकर है कोई रईस का नौकर है ('कर्मभूमि'—पृ० ३५५) ।" देहाती कहार की बातों में भाषा की बहार देखिये—"अरे सरकार, जो ई होत तो का पूछै का रहा। मेहरिया अस गुनन की पूरी मिली है कि बात पीछू करत है, झाड़ू पहले चलावत है। जो सरकार, सुन भर पावे कि कौनो दुसरी मिहरिया से हँसत रहा, तो खड़ै लील जाय सरकार, खड़ै लील जाय ('प्रतिज्ञा'—पृ० १५१) ।" सारांश यह कि इनके जिस उपन्यास में जितने प्रकार के पात्र रहते हैं उसमें उतने ही प्रकार के

भाषा-स्वरूप भी पाये जाते हैं। इनकी भाषा की यह अनेक रूपता 'प्रसाद' जी के उस अपरिवर्त्तनीय भाषा-स्वरूप की याद दिला देती है जो रहस्य-भावना से भरी हुई गंभीर शैली का साथ कभी छोड़ता ही नहीं।

यहाँ एक बात का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। वह बात यही है कि इनके उपन्यास में जहाँ मुसलमान पात्रों की भाषा का प्राधान्य आ जाता है वहाँ उर्दू न जाननेवाले पाठकों को कठिनाई का सामना करना पड़ता है और वे कथा के प्रवाह में एक प्रकार के अनिच्छित अवरोध का अनुभव करते हैं। 'शकम पर्वरी', 'अजुमन इत्तहाद,' 'अहम मसला' आदि शब्दों का बाहुल्य हिन्दी उपन्यासों में किसी भी कारण से उचित नहीं समझा जाना चाहिए। हिन्दी की पुस्तकें, हिन्दी की निजी विशेषताएँ छोड़ देने को विवश की जायँ यह ठीक नहीं। उनमें परायी भाषा के उन्हीं शब्दों का स्वागत किया जाना चाहिए जो अब हिन्दी के अंग बना लिये गये हैं और जिन्हें अन्यान्य भाषाओं का ज्ञान न रखने वाले हिन्दी पाठक भी सुगमता से समझ सकते हैं। 'सेवासदन" में सैयद तेग अली और हकीम शोहरत खाँ से ('सेवासदन'-पृ० २८०), तथा 'प्रेमाश्रम' में सैयद इर्फ़ान अली से,

और कहीं-कहीं सैहद इजाद हुसेन से भी, जिस भाषा का प्रयोग कराया गया है वह हिन्दी पुस्तकों की शोभा नहीं कही जा सकती और न 'कर्मभूमि' में आये हुये 'सदहा वारदातें', 'छटा हुआ गुर्गा', 'इनकलाब की सूरत', 'फर्जी 'आदावत' 'मजहबी गरोहबन्दी' ('कर्मभूमि'—पृ० ४२५) आदि शब्दों से भरे हुए उर्दू के पदों को ही हिन्दी के पाठक पसन्द कर सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसा करके प्रेमचन्दजी अपने मुसलमान पात्रों को अधिक अकृत्रिम बना देते हैं। किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि इनका यह प्रयास हिन्दी की निजी विशेषता तथा हिन्दी पाठकों की औपन्यासिक अभिरुचि पर गहरा आघात पहुँचाता है। "बाबूजी! मैं आप के हाथ जोड़ता हूँ; ऐसी बात मुँह से न निकालिये। जब से आप आने-जाने लगे हैं, मेरे लिये दुनिया कुछ और हो गई है। मैं अपने दिल में एक ऐसी ताकत, ऐसी उमंग, पाती हूँ जिसे एक तरह का नशा कह सकती हूँ ('कर्मभूमि'—पृ० १२१)"—मुसलमान पात्रों से जहाँ इस तरह की भाषा का प्रयोग कराया गया है, वहाँ वह हिन्दी की सगी बहन-सी मालूम पड़ती है। किन्तु वहाँ तो वह हिन्दी की सौत-सी लगती है जहाँ उसका रूप हो गया है "नहीं जनाब, मेरी यह इल्तजा आप को कबूल करनी

होगी। खुदा ने आप को एक दर्दमन्द दिल अता किया है। क्यों नहीं, आप लाला जटाशंकर मरहूम के खलफ हैं जिनकी ग़रीबपरवरी से सारा शहर मालामाल होता था। यतीम आपको दुआएँ देंगे और अंजुमन हमेशा आपकी ममनून रहेगी। ....वल्लाह आप दोनों साहब बड़े जिन्दा दिल हैं। दुआ कीजिये कि खुदा मुझे भी क़नाअत की दौलत अता करे और मैं भी आपकी सोहबत से फैज़ उठाऊँ ('प्रेमाश्रम'—पृ० ३५२)।"

स्वर्गीय पं० किशोरीलाल गोस्वामीजी ने भी अपने उपन्यास के मुसलमान पात्रों से प्रायः इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग कराया है। पर इसे किसी भी अवस्था में हम इसलिए अच्छा नहीं समझते कि यह प्रणाली जहाँ एक ओर हिन्दी के स्वतंत्र विकास में बाधा डालनेवाली है वहाँ दूसरी ओर हिन्दी न जाननेवाले पाठकों के औपन्यासिक आनन्द को भी यह छिन्न-भिन्न कर देती है। हिन्दी के उपन्यासों या नाटकों में मुसलमान पात्रों से भी ऐसी ही भाषा का प्रयोग कराया जाना चाहिए जो हिन्दी ही-सी मालूम पड़े, जैसा कि स्वयं प्रेमचन्दजी ने कई स्थानों पर किया है।

देश-काल के साथ भी इनकी भाषा का पूरा-पूरा सामञ्जस्य रहता है। जहाँ, जिस समय, जैसी भाषा का

प्रयोग उचित है वहाँ, उस समय, ये वैसी ही भाषा से काम लेते हैं। औपन्यासिक स्थिति का ध्यान जितना इन्हें रहता है, उतना ही इनकी भाषा को भी। वह उसे जहाँ जिस रूप में देखती है, वहाँ उसीके अनुरूप अपने को भी बना लेती है। इनकी भाषा में अपनी गति को बदल देने की अद्भुत क्षमता है और उसकी इस क्षमता के ऊपर प्रेमचन्दजी के कलात्मक विवेक और संयम का सुदृढ़ नियंत्रण रहता है। भाषा को उपन्यास के पात्रों के जिस आचार-विचार, रीति-रिवाज, रहन-सहन तथा उनकी जिस स्थिति और प्रवृत्ति का चित्रण करना रहता है, उसे वह सर्वथा स्वाभाविक रूप में ही चित्रित कर देती है, और इस कार्य में उसे पूरी सफलता इसलिए मिलती है कि वह प्रेमचन्दजी की अनुभूति का साथ कभी नहीं छोड़ती।

सरल, स्वच्छ, सबल और कवित्वपूर्ण शैली

अनुभूति की सचाई भाषा-शैली को सरल, स्वच्छ, सबल और कवित्वपूर्ण बना देती है। प्रेमचन्दजी नकली अनुभूति वाले कलाकार नहीं हैं। इसीसे इनकी भाषा-शैली भी अनुकृत नहीं, अनुकरणीय होती है। उपन्यास की भाषा में जो सरलता और स्वच्छता होनी चाहिए, वही इनकी भाषा में रहती है। साथ ही, उसमें ओज भी रहता है और

रस भी। देखिये—"अरावली की हरी-भरी, झूमती हुई पहाड़ियों के दामन में जसवंतनगर यों सो रहा है, जैसे बालक माता की गोद में। माता के स्तन से दूध की धारें, प्रेमोद्‌गार से विकल, उबलती, मीठे स्वरों में गाती निकलती हैं और बालक के नन्हें-से मुख में न समाकर नीचे बह जाती हैं। प्रभात की स्वर्ण किरणों में न नहाकर माता का स्नेह सुन्दर मुख निखर गया है और बालक भी, अंचल से मुँह निकाल कर, माता के स्नेह-प्लावित मुख की ओर देखता है, हुमुकता है और मुसकिराता है, पर माता बार-बार उसे अञ्चल से ढक लेती है कि कहीं उसे नजर न लग जाय ('रंगभूमि')—पृ० ४५७)।"

"तुमने कभी मेरी ओर आँख उठाकर देखा है? नहीं, मुझे इसकी लालसा ही रह गई। तुम दूसरों के लिए मरना जानते हो, अपने लिए जीना भी नहीं जानते। तुमने एक बार मुझे इशारा भी कर दिया होता तो मैं दौड़ कर तुम्हारे चरणों में चिपट जाती, इस धन दौलत पर लात मार देती, इस बन्धन को कच्चे धागे की भाँति तोड़ देती। लेकिन तुम इतने विद्वान होकर भी सरल हृदय हो, इतने अनुरक्त होकर भी इतने विरक्त। तुम समझते हो, मैं तुम्हारे मन का हाल नहीं जानती। मैं सब जानती

हूँ, एक-एक अक्षर जानती हूँ, लेकिन क्या कहूँ ('कायाकल्प'—पृ० २७८) ?"

इनकी रचनाओं में कहीं-कहीं कविता का-सा आनंद आता है। जहाँ-जहाँ इनकी भाषा ने कवित्वपूर्ण शैली का आश्रय ग्रहण किया है वहाँ-वहाँ उसकी कोमलता, मार्मिकता और गंभीरता हमारे गद्य-साहित्य की शोभा बन गई है। उसके भीतर सुकुमार भावनाओं की एक लोकोत्तर मधुरिमा भरी रहती है। देखिये—"श्यामल क्षितिज के गर्भ से निकलने वाली बाल-ज्योति की भाँति अमरकान्त को अपने अन्तःकरण की सारी क्षुद्रता, सारी कलुषता के भीतर, एक प्रकाश-सा निकलता हुआ जान पड़ा, जिसने उसके जीवन को रजत शोभा प्रदान कर दी। दीपकों के प्रकाश में, संगीत के स्वरों में, गगन की तारिकाओं में, उसी शिशु की छवि थी, उसी का माधुर्य था, उसीका नृत्य था ('कर्मभूमि'—पृ० ६४)।"

"सागर के स्वच्छ निर्मल जल में तारे नाचते हैं, चाँद थिरकता है, लहरें गाती हैं। वहाँ देवता सन्ध्या करते हैं, देवियाँ स्नान करती हैं ('कायाकल्प'—पृ०३०६)।"

"गगन-मण्डल में चमकते हुए तारागण व्यंग्य-दृष्टि की भाँति हृदय में चुभते थे। सामने वृक्षों के कुंज थे,

विनय की स्मृति-मूर्त्ति, श्याम, करुण, स्वर की भाँति कंपित, धुएँ की भाँति असंबद्ध, यों निकलती हुई मालूम हुई, जैसे किसी संतप्त हृदय से हाय की ध्वनि निकलती है ('रंगभूमि'—पृ० ४५६) ।"

प्रेमचन्दजी की भाषा-शैली की बड़ी विशेषता यह है कि उसमें सादगी भी रहती है और अलङ्कारों की शोभा भी। सीधे-सादे भावपूर्ण शब्दों को जोड़कर छोटे-छोटे चुभते हुए वाक्य बनाने में तो ये पूर्ण पटु हैं ही, इसके साथ ही, इनकी यह भी विशेषता है कि ये उन्हीं के भीतर अलङ्कारों का विधान भी बड़ी ही मार्मिकता से कर सकते हैं। इनके शब्द-चित्रों में बड़ी सजीवता रहती है। देखिये—
"गंगाजली ने उन्हें पकड़ने को हाथ फैलाये, पर उसके दोनों हाथ फैले ही रह गये, जैसे किसी गोली खाकर गिरनेवाली चिड़िया के दोनों पख खुले रह जाते हैं ('सेवासदन'—पृ० १४) ।"

"उसी समय जब पशु-पक्षी अपने-अपने बसेरे को लौट रहे थे, निर्मला का प्राण-पक्षी भी दिनभर शिकारियों के निशानों, शिकारी चिड़ियों के पंजों और वायु के प्रचंड झोंकों से आहत और व्यथित, अपने बसेरे की ओर उड़ गया ('निर्मला'—पृ० २८६) ।"

"वह बड़ी-बड़ी पलकों से आँखें छिपाये, देह चुराए, शोभा की सुगन्ध और ज्योति फैलाती हुई, इस तरह निकल गई, जैसे-स्वप्न-चित्र एक झलक दिखाकर मिट गया हो ('कर्मभूमि'—पृ० ५३)।"

'आनन्द, महीनों चिंता के बंधन में पड़े रहने के बाद आज जो छूटा, तो छूटे हुए बछड़े की भाँति कुलाटें मारने लगा ('कर्मभूमि'—पृ० १०४)।"

"प्रभात के रक्त-रंजित मर्मस्थल में सूर्य यों मुँह छिपाये बैठे थे जैसे शोक-मंडित नेत्र में अश्रु-विन्दु ('कायाकल्प'-पृ० ३४०)।"

सुन्दर-सुन्दर मुहावरों तथा अनुभूतिमूलक अमर उक्तियों के बाहुल्य ने इनकी भाषा-शैली को जो वैभव, जो सौन्दर्य्य और जो गौरव प्रदान कर रखा है, वह इनके द्वारा प्रस्तुत किये हुए साहित्य के अमरत्व का सबसे बड़ा संरक्षक है। यदि इनके द्वारा प्रयुक्त मुहावरों तथा इनकी अनमोल सूक्तियों को एकत्र किया जाय तो उनका एक स्वतंत्र साहित्य ही तैयार हो सकता है—एक बड़ी-सी पोथी प्रस्तुत कर ली जा सकती है। उनमें काव्यगत सौन्दर्य्य भी रहता है और जीवन के गंभीर अनुभव भी भरे रहते हैं। मुहावरे तो इनकी भाषा की जान ही हैं। उनके उदाहरण

उपस्थित करने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, क्योंकि वे इनकी रचनाओं में सभी जगह भरे पड़े हैं। हाँ, अनुभूति-भरे अमर वाक्यों की थोड़ी-सी बानगी ले लीजिये—

"प्रेम वसन्त समीर है, द्वेष ग्रीष्म की लू ('सेवासदन'—पृ० ४८)।"

"प्रेम केवल हृदयों को मिलाता है, देह पर उसका वस नहीं है ('प्रेमाश्रम'—पृ० ४८२)।"

'सच्चा प्रेम, संयोग में भी वियोग की मधुर वेदना का अनुभव करता है। ('प्रतिज्ञा'—पृ० १०८)।"

"प्रेम हृदय के समस्त सद्भावों का शांत, स्थिर, उद्गार-हीन समावेश है ('कायाकल्प'—पृ० ३४७)।"

"प्रणय दुख के आघातों से ही विकास पाता है ('निर्मला'—पृ० २०३)।"

"अनुराग स्फूर्ति का भंडार है ('ग़बन'—पृ० १३)।"

"अनुराग, यौवन या रूप या धन से नहीं उत्पन्न होता। अनुराग, अनुराग से उत्पन्न होता है ('ग़बन'—पृ० १६६)।"

"विचारोत्कर्ष ही सौन्दर्य्य का वास्तविक शृंगार है ('रंगभूमि'—पृ० ५०४)।"

"वायु की भाँति दुर्बलता भी एक अदृश्य वस्तु है ('सेवासदन'—पृ० ८३)।"

"कायरता भी वीरता की भाँति संक्रामक होती है ('कर्मभूमि'—पृ० २८६)।"

"विपत्ति में भी जिस हृदय में सद्ज्ञान न उत्पन्न हो वह सूखा वृक्ष है जो पानी पाकर पनपता नहीं बल्कि सड़ जाता है ('प्रेमाश्रम'—पृ० ३१) ।"

विपत्ति में हमारा मन अन्तर्मुखी हो जाता है ('ग़बन'—पृ० १६६)।"

"मन एक भीरु शत्रु है, जो सदैव पीठ के पीछे से वार करता है ('रंगभूमि'—पृ० ४०३)।"

"जीवन में ऐसे अवसर भी आते हैं, जब निराशा में भी हमें आशा होती है ('ग़बन'—पृ० १४०)।"

"निराशा में प्रतीक्षा अन्धे की लाठी है ('रंगभूमि'—पृ० ५०७)।"

"संतान वह सबसे कठिन परीक्षा है जो ईश्वर ने मनुष्य को परखने के लिए गढ़ी है ('कायाकल्प'—पृ० ३०६)।"

"संतान को विवाहित देखना बुढ़ापे की सब से बड़ी अभिलाषा है ('कर्मभूमि'—पृ० ५२)।"

"भोग-विलास, सैर-तमाशे से आत्मा उसी भाँति संतुष्ट नहीं होती, जैसे कोई चटनी और आचार खाकर अपनी क्षुधा को शांत नहीं कर सकता ('कर्मभूमि'—पृ० २५)।"

"जहाँ अपने विचार का राज हो वही अपना घर है 'कर्मभूमि'—पृ० २६२)।"

"औरतों को अपने रूप की निन्दा जितनी अप्रिय लगती है उससे कहीं अप्रिय पुरुषों को अपने पेट की निन्दा लगती है ('निर्मला,—पृ० ४६)।"

"पराश्रय से बड़ी विपत्ति दुर्भाग्य के कोष में नहीं है ('प्रतिज्ञा'—पृ० ५०)।

"मैले वर्तन में साफ पानी भी मैला हो जाता है। द्वेष से भरा हुआ हृदय पवित्र आमोद भी नहीं सह सकता ('प्रतिज्ञा' पृ० ११०)।"

."मनुष्य जिस काम को हृदय से बुरा नहीं समझता, उसके कुपरिणाम का भय एक गौरवपूर्ण धैर्य की शरण लिया करता है ('प्रेमाश्रम'—पृ० ११)।"

"संसार में सब से बड़े अधिकार सेवा और त्याग से मिलते हैं''('गोदान'—पृ० २५६)।

मुहावरों की भाँति इस प्रकार के अमर वाक्यों का

प्रयोग भी ये उपयुक्त स्थान पर ही करते हैं; इच्छानुसार उन्हें, योंही, जहाँ-तहाँ ठूँस नहीं देते। इतना अवश्य है कि कहीं-कहीं अँग्रेजी और फारसी के मुहावरे ये ज्यों-के-त्यों अनुवाद करके जड़ देते हैं—इस बात का कुछ कम ध्यान रखते हैं कि मुहावरों का विदेशीपन किसी भाषा के लिए कहाँतक सह्य है और कहाँतक असह्य। पर, इसे हम उतना आपत्तिमूलक नहीं समझते, क्योंकि हिन्दी को इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि वह इस 'असह्य' को धीरे-धीरे 'सह्य' बनाती चले। हाँ, इसका समर्थन हम कदापि नहीं कर सकते कि हिन्दी की वाक्य रचना 'लखनवी उर्दू-व्याकरण' का रुख देखकर की जाय। जैसे—"नारियों की रक्षा करनी पुरुषों का धर्म है ('प्रेमाश्रम'—पृ० ३७२)।" "अनुमति ले लेनी आवश्यक समझता हूँ ('कायाकल्प'—पृ० २६)।" "यही बातें कहनी चाहता हूँ ('कायाकल्प'—पृ० १८१।" जो…कमी थी उसे वह उपहारों से पूरी करनी चाहते थे ('निर्मला' पृ० ५८।" यहाँ करनी, कहनी और लेनी का प्रयोग बिल्कुल अच्छा नहीं लगता।

भाव और शैली का समन्वय इनकी रचनाओं में

भाव और शैली का समन्वय

सर्वत्र पाया जाता है। भावों के उत्कर्ष से इनकी भाषा-शैली उत्फुल्ल हो उठती है, और भाषा-शैली की सजीवता इनके व्यक्त किये हुए भावों को अत्यन्त बलशाली बना देती है। जहाँ कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति का अवसर आता है वहाँ इनकी भाषा आपसे-आप कोमल, करुण, स्निग्ध और मधुर बन जाती है। जहाँ विचारों की उग्रता प्रकट करने की आवश्यकता आ पड़ती है, वहाँ इनकी भाषा के एक-एक शब्द में जैसे आग की चिनगारी आ बैठती है! 'रानी जाह्नवी' जब क्रोध के आवेश में आती हैं तब 'सोफ़िया से कहती हैं—"मैं राजपूतनी हूँ, मरना भी जानती हूँ और मारना भी जानती हूँ। इसके पहले कि तुम्हें विनय से पत्र-व्यवहार करते देखूँ मैं तुम्हारा गला घोट दूँगी ('रंगभूमि'—पृ० २५२)।" किन्तु उन्हीं के हृदय में जब उसके प्रति स्नेह का संचार होता है तब वाणी की मधुर धारा इस तरह चल पड़ती है—"बेटी, तुम देवी हो, मेरी बुद्धि पर परदा पड़ गया था, मैंने तुम्हें पहचाना न था। मुझे सब मालूम है बेटी। सब सुन चुकी हूँ। तुम्हारी आत्मा इतनी पवित्र है, यह मुझे मालूम न था। आह! अगर पहले से जानती ('रंगभूमि'—पृ० ७४२)!"

कृतज्ञता-जन्य स्नेह की सीमा में पहुँचकर, जो

बुढ़िया पठानिन, 'अमर' के प्रति इन कोमल शब्दों का प्रयोग करती है कि "मेरा बच्चा इस बुढ़िया के लिए इतना हैरान हो रहा है। इतनी दूर से दौड़ा आया। पढ़ने जाते हो न बेटा, अल्लाह तुम्हें बड़ा दरजा दे ('कर्मभूमि'—पृ० ४६)" वही जब गुस्से में आ जाती है तब उसी 'अमर' को सम्बोधन करके आग-भरे शब्दों में कहती है "होश में आ छोकरे !.........बस, अब मुँह न खोलना, चुपचाप चला जा, नहीं आँखें निकलवा लूँगी। तू है किस घमण्ड में ? खबरदार, जो कभी इधर का रूख किया ! मुँह में कालिख लगाकर चला जा ('कर्मभूमि'—पृ० १७५)।"

जहाँ इन्हें किसी रहस्यात्मक भाव की अभिव्यक्ति करनी पड़ती है वहाँ इनकी भाषा के भीतर शब्दों के एक प्रशान्त और माधुर्य्यपूर्ण वातावरण की सृष्टि हो जाती है। जैसे—"मैं वह हूँ, जिसने न जाने कितने दिन हुए तुम्हारे हृदय में प्रेम के रूप में जन्म लिया था, और तुम्हारे प्रियतम के रूप में तुम्हारे सत्, व्रत, और सेवा से अमर होकर आज तक उसी अपार आनन्द की खोज में भटकता फिरता हूँ। ××× कह नहीं सकता, कितनी वार तुम्हारे हृदय-मन्दिर के द्वार पर भिक्षुक बनकर आया ('कायाकल्प'—पृ० ५६२)।"

इनकी भावाभिव्यक्ति की प्रणाली विवरणात्मक भी होती है और संकेतात्मक भी। विवरण जहाँ आवश्यकता से अधिक लम्बे हो जाते हैं वहाँ, कहीं-कहीं, भाव और भाषा के समन्वय में कुछ दुर्बलता आ जाती है—विवरण मानों अपनी आकार-वृद्धि के लोभ में पड़कर भाव-विशृंखलता के दोष-जाल में आप-ही-आप फँस जाते हैं। साधारणतः इनके सभी उपन्यासों में, और विशेषतः 'प्रेमाश्रम' में, इस प्रकार के विवरणात्मक अंश बहुत हैं जिनके भावों को भाषा-प्रवाह के धक्कों ने छिन्न-भिन्न कर रखा है। सच तो यह है कि विवरणात्मक या विश्लेषणात्मक शैली के भीतर इनकी भाषा अपनी वास्तविक गति से काम लेना भूल जाती है। किन्तु वही अभिनयात्मक या संकेतात्मक शैली के आश्रय में पहुँचकर अपनी गति-विधि को बड़ी ही सतर्कता और सुन्दरता से सम्हालती चलती है। इनकी भाषा-शैली का जीता-जागता स्वरूप विशेषकर इनके पात्रों के कथोपकथन में ही देखने को मिलता है।

भावाभिव्यक्ति की प्रणाली

अभिनयात्मक या संकेतात्मक शैली का आश्रय ग्रहण करके इनकी भाषा बड़ी तत्परता से एक हृदय का भाव दूसरे हृदय तक पहुँचा सकती है। उस समय उसका प्रवाह जितना ही प्रखर होता है, उतना ही गंभीर भी। सूरदास

के एक ही "अनर्गल कथन"-द्वारा, "थोड़े-से शब्दों में" इन्होंने हमारे सम्पूर्ण सामाजिक और राजनीतिक जीवन की जो विवेचना की है उसके भीतर इनकी भाषा की भाव-संचालिनी शक्ति का अवलोकन कीजिये—"बस, बस, अब मुझे क्यों मारते हो, तुम जीते, मैं हारा। यह बाजी तुम्हारे हाथ रही, मुझ से खेलते नहीं बना। तुम मँजे हुए खिलाड़ी हो, दम नहीं उखड़ता, खिलाड़ियों को मिलाकर खेलते हो, और तुम्हारा उत्साह भी खूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हाँफने लगते हैं, और खिलाड़ियों को मिलाकर नहीं खेलते, आपस में झगड़ते हैं, गाली-गलौज, मार-पीट करते हैं, कोई किसीकी नहीं मानता। तुम खेलने में निपुण हो, हम अनाड़ी हैं ('रंगभूमि'—पृ० ८६०)।"

दाननाथ और अमृत राय के सीधे-सादे शब्दों-द्वारा इन्होंने बन्धुत्व-भावना की, आत्मीयता की, कितनी मृदुल और मधुर अभिव्यक्ति की है—

"देख लेना मैं आज संखिया खा लेता हूँ कि नहीं। यह पत्र रक्खा ही रह जायगा। सवेरे 'राम नाम सत्त' होगी।"

"संखिया न हो तो मैं दे दूँगा। एक बार किसी दवा में डालने के लिये मँगवाई थी।"

"मैं तुम्हारा सिर फोड़ दूँगा। तुम हमेशा से मुझ पर

हुकूमत करते आये हो और अब भी करना चाहते हो, लेकिन अब मुझ पर तुम्हारा कोई दाव न चलेगा। आखिर मैं भी तो कोई चीज़ हूँ ('प्रतिज्ञा' —पृ० ६२)।"

कितनी मनोरम मैत्री है, कितना दुर्लभ स्नेह, कैसा अपूर्व बन्धुत्व! अमृतराय अपने मित्र दाननाथ को,उनके जीवन को सुखमय बनाने की कामना से अपने जीवन का सबसे महँगा सुख, अपनी एक अत्यन्त प्यारी निधि, बलपूर्वक भेंट कर रहे हैं और दाननाथ अपने मित्रको उस वस्तु से उस सुख से वंचित नहीं करना चाहतेइसी बात की लड़ाई है। लड़ाई कितनी सुन्दर है और कितने सुन्दर शब्दों में हमें उसका परिचय दिया गया है!

इनकी संकेतात्मक शैली के भीतर जब व्यंग्य और परिहास की बातें आ जाती हैं तब भाषा तीर की तरह सीधी और चुभनेवाली बन जाती है। उस समय भावों की गंभीरता लेकर वह नहीं चलती, उनकी गति में तीव्रता अवश्य ले आती है। 'सुभद्रा' अपने पति के इस प्रश्न के उत्तर में कि "घोड़े की रातिब में कुछ कमी कर दूँ?" व्यंग्य करके कहती है "हाँ, यह दूर की सूझी। घोड़े को रातिब दिया ही क्यों जाय? घास काफी है। यही न होगा कूल्हे पर हड्डियाँ निकल आवेंगी। किसी तरह मर-जीकर कचहरी तक लेही जायगा, यह तो कोई नहीं कहेगा कि वकील

साहब के पास सवारी नहीं है ('सेवासदन'—पृ० ७३) ।"
इसी तरह 'सुधा' अपने पति से परिहासपूर्ण शब्दों में कहती है "मेरे दादाजी ने पाँच हजार दिये न! अभी छोटे भाई के विवाह में पाँच-छः हजार और मिल जायँगे। फिर तो तुम्हारे बराबर धनी संसार में कोई दूसरा न होगा। ग्यारह हजार बहुत होते हैं; बापरे बाप! ग्यारह हजार!! उठा-उठा कर रखने लगे तो महीनों लग जायँ। अगर लड़के उड़ाने भी लगें, तो तीन पीढ़ियों तक चले! कहीं से बातचीत हो रही है या नहीं ('निर्मला'—पृ० १६६)?"

इनकी भाषा तथा भाव-व्यञ्जना की प्रणाली में जो अस्वाभाविकता और दूरुहता का अस्तित्व नहीं देख पड़ता इसका एक मात्र कारण यही है कि ये अपनी भाषा-शैली को अथवा मूल भाव से सम्बन्ध रखनेवाली बातों को कभी रहस्यपूर्ण बनाने की चेष्टा नहीं करते। भाषा और भाव के सहज सौन्दर्य्य से ही ये स्वयं भी सन्तुष्ट रहते हैं और अपने पाठकों को भी परितृप्त करने की आशा रखते हैं। सीधी-सादी बातों को, सीधे-सादे ढंग से, सीधी-सादी भाषा में, व्यक्त कर देना ही इनका मुख्य उद्देश्य रहता है; इसीलिए ये शब्दों के अनावश्यक आडम्बर से अपनी भाषा-शैली तथा भाव-व्यञ्जना की प्रणाली को बराबर बचाये रहते हैं।

उद्देश्य-पालन

यह तो स्पष्ट है कि 'कला के लिए कला' वाले सिद्धान्त के आधार पर ये अपनी कला का निर्माण नहीं करते।

प्रेमचन्द की कला का उद्देश्य

इस सिद्धान्त की ओट में आज कल बेचारी 'कला' के नाम पर जो-जो साहित्यिक अनाचार किये जा रहे हैं उनके साथ इनकी प्रवृत्ति का कोई सम्पर्क नहीं रहता। अद्भुत और अस्वाभाविक नवीनता के साथ अर्थहीन शब्दों का आकर्षक आडम्बर खड़ा कर देना ही यदि कला के चिर-सुन्दर स्वरूप का विधान करना कहलाता हो तो

निस्सन्देह ये कलाकार के इस क्षमताशाली सौभाग्य से सर्वथा अभिवञ्चित हैं ।

इनके उपन्यास खाली समय में दिल बहलाने का काम करके ही छुट्टी पा जाते हों, सो भी नहीं । वे मनोरंजक अवश्य होते हैं, किन्तु मनोरंजन करना ही उनका एकमात्र उद्देश्य नहीं होता । वे हमारे मन से भी सम्बन्ध रखते है, और जीवन से भी । इनकी कला जीवन से ही निकलती है, और जीवन के लिए ही निकलती है। अतएव, जीवन के भिन्न-भिन्न तत्त्वों तथा सिद्धान्तों की सतर्क समीक्षा और सुस्पष्ट व्याख्या करना ही उसका मुख्य उद्देश्य होता है।

जीवन की बाहरी घटनाओं का मनोरंजक विश्लेषण करते हुए बीच-बीच में ये उसके भीतरी तत्त्वों की भी व्याख्या करते चलते हैं। जीवन क्या है, इसके सम्बन्ध में इनके मार्मिक विचारों पर ध्यान दीजिये—"वह क्या पुष्प से कोमल नहीं, जो वायु के झोंके सहता है और मुरझाता नहीं? क्या वह लताओं से कोमल नहीं, जो कठोर वृक्षों के झोंके सहती, और लिपटी रहती है? वह क्या पानी के बबूलों से कोमल नहीं, जो जल की तरंगों पर तैरते हैं, और टूटते

जीवन की समीक्षा

नहीं ? संसार में और कौन-सी वस्तु इतनी कोमल, इतनी अस्थिर, इतनी सारहीन है, जिसे एक व्यंग्य, एक कठोर शब्द, एक अन्योक्ति भी दारुण, असह्य, घातक है ! और इस भित्ति पर कितने विशाल, कितने भव्य, कितने बृहदाकार भवनों का निर्माण किया जाता है ('रंगभूमि'—पृ० ८५५) !"

जीवन की समीक्षा करते समय उससे सम्बन्ध रखने वाले सिद्धान्तों की कभी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कलाकार जब जीवन की आलोचना करने लगता है तब, स्वभावतः, उसे किसी-न-किसी प्रकार के सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन करना ही पड़ता है। उसकी जीवन-समीक्षा का अर्थ ही अधूरा रह जाय, यदि वह ऐसा न करे। अतएव, प्रेमचन्द जी भी ऐसा ही करते हैं। जहाँ इन्हें जीवन के जिस व्यापार का विश्लेषण करना होता है, जहाँ उसके जिस तत्त्व की व्याख्या करनी पड़ती है, वहाँ ये उससे सम्बन्ध रखनेवाले किसी न किसी सिद्धान्त का भी प्रतिपादन अवश्य करते हैं। सच पूछिये तो सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना ही इनकी जीवन-समीक्षा का आधार बन जाता है, उससे अलग हटकर ये जीवन की जाँच-पड़ताल कर ही नहीं सकते। स्थान-स्थान पर ये हमारे

जीवन-व्यापार से सम्बन्ध रखनेवाले धर्म, कर्म, रीति, नीति, आचार, व्यवहार के सिद्धान्तों के जो स्वरूप स्थिर करते चलते हैं वे बड़े ही सुन्दर और समयोपयोगी होते हैं। 'चक्रधर' और 'अमर' के धार्मिक सिद्धान्त कितने स्वाभाविक, कितने सामयिक हैं! एक कहता है "मैं तो नीति ही को धर्म समझता हूँ। और, सभी सम्प्रदायों की नीति एक-सी है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, सभी सत्कर्म और सद्विचार की शिक्षा देते हैं। हमें कृष्ण, राम, ईसा, मुहम्मद, बुद्ध सभी महात्माओं का समान आदर करना चाहिए।...............बुरे हिन्दू से अच्छा मुसलमान उतना ही अच्छा है, जितना बुरे मुसलमान से अच्छा हिन्दू ('कायाकल्प'—पृ० २६०)।" दूसरे की राय में "धर्म के काम संसार में मेल और एकता पैदा करना होना चाहिए। क्यों खान-पान में, रस्म-रिवाज में, धर्म अपनी टाँगें अड़ाता है ('कर्मभूमि'—पृ० १२४)।"

जीवन-संग्राम में वीरता और धीरतापूर्वक लड़ते रहने के लिए हमारे मन में कर्म-भक्ति की जैसी भावना जमी रहनी चाहिए उसके स्वरूप का पता 'सूरदास' के इन शब्दों से चल जाता है—"हमारी बड़ी भूल यही है कि हम खेल को खेल की तरह नहीं खेलते। खेल में

धाँधली करके कोई जीत ही जाय, तो क्या हाथ आयेगा। खेलना तो इस तरह चाहिये कि निगाह जीत पर रहे, पर हार से घबराये नहीं, ईमान को न छोड़े। जीतकर इतना न इतराए कि अब कभी हार होगी ही नहीं। यह हार-जीत तो जिंदगानी के साथ है ('रंगभूमि'—पृ० ६२२)।"

'काले खाँ' की निष्काम कर्म-भावना का भी सौन्दर्य्य देख लीजिये। कहता है—"भैया, कोई काम सवाब समझकर नहीं करना चाहिये। दिल को ऐसा बना लो कि, काम में उसे वही मज़ा आवे, जो गाने या खेलने में आता है। कोई काम इसलिये करना कि उससे नजात मिलेगी, रोज़गार है ('कर्मभूमि'—पृ० ४८४)।"

कर्म का उद्देश्य अधम न हो तो वह पूजा कहलाता है। उसका प्रत्यक्ष फल ही सब कुछ नहीं है, उसका गौरवपूर्ण पुरस्कार अधिकतर उसके भीतर ही छिपा रहता है। मानव-जाति के साधना-संलग्न, प्रयत्नपूर्ण जीवन का यह एक अमर सत्य है। 'सुखदा' इसी सत्य का अनुभव करती हुई कहती है—"जो काम अच्छी नीयत से किया जाता है, वह ईश्वरार्थ होता है। नतीजा कुछ भी हो। यज्ञ का अगर कुछ फल न मिले तो भी यज्ञ का पुण्य तो मिलता ही है ('कर्मभूमि'—पृ० ५५१)।"

अच्छा काम करते हुए भी कभी-कभी कलंक का भागी बनना पड़ता है। बहुत-से लोग इसी कारण अपने कर्त्तव्य से विमुख भी हो जाते हैं। इससे समाज का भीषण अकल्याण होता है। इसीलिए 'सूरदास' का कहना है कि "आदमी का धरम है कि किसी को दुख में देखे, तो उसे तसल्ली दे। अगर अपना धरम पालने में कलंक लगता है, तो लगे बला से। इसके लिए कहाँतक रोऊँ ('रंगभूमि'—पृ० १६९)?"

साधारण सांसारिक जीवन व्यतीत करनेवालों के संयम-नियम सम्बन्धी सिद्धान्तों के रूप कैसे होने चाहिए, उसकी एक झलक, 'अमृतराय' के इन शब्दों में दीख पड़ती है—"पुष्टिकारक और स्वादिष्ट भोजन को मैं मन और बुद्धि के स्वास्थ्य के लिये आवश्यक समझता हूँ। दुर्बल शरीर में स्वस्थ मन नहीं रह सकता। तारीफ जानदार घोड़े पर सवार होने में है। उसे इच्छानुसार दौड़ा सकते हो। मरियल घोड़े पर सवार होकर अगर तुम गिरने से बच ही गये तो क्या बड़ा काम किया ('प्रतिज्ञा'—पृ० २३६)?"

नालायक से नालायक बाप भी सदैव यही कामना किया करता है कि उसका बेटा सत्पथगामी बने जिसके

साथ हमारी किसी भी प्रकार की आत्मीयता रहती है, उसके शील-स्वभाव या आचार-व्यवहार की निंदा हम, गहरी मानसिक वेदना का अनुभव किये बिना, सुन ही नहीं सकते। हम भले ही बुरे हों, किन्तु जो हमारे 'अपने' हैं उन्हें हम सपने में भी बुराई की राह पर देखना पसन्द नहीं करते। फिर अपनी सन्तति के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या! प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि उसके बाल-बच्चों की बड़ाई हो—और वह बड़ाई झूठी न हो। मानव-जीवन के इस मनोवैज्ञानिक तत्त्व की व्याख्या 'दयानाथ' के इन थोड़े-से शब्दों में है—"मैं केवल इतना ही चाहता हूँ कि मेरा लड़का चाहे ग़रीब रहे, पर नीयत न बिगाड़े। मेरी ईश्वर से यही प्रार्थना है, कि वह तुम्हें सत्पथ पर रक्खे ('ग़बन'—पृ० ११३)।"

किन्तु, अपने बच्चों को सत्पथ पर रखने के लिए, उन्हें आदर्श सदाचारी बनाये रखने के उद्देश्य से, बहुत-से लोग अनावश्यक और अस्वाभाविक सतर्कता तथा अरुचिकर नियन्त्रण से काम लिया करते हैं। उन्हें लोगों से मिलने-जुलने नहीं देते, बाहर जाकर खेलने-कूदने भी नहीं देते। यह व्यवहार-नीति की एक बड़ी भारी भूल है। इसी भूल की ओर सैद्धान्तिक संकेत करते हुए प्रेमचन्दजी, मुन्शी

'तोताराम' के मित्रों से कहलाते हैं कि "खुली हवा में चरित्र के भ्रष्ट होने की उससे कहीं कम संभावना है जितनी बन्द कमरे में। × × × युवावस्था में एकान्तवास चरित्र के लिए बहुत ही हानिकर है ('निर्मला'—पृ० ६४)।

जीवन की व्याख्या अथवा नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी ये दो प्रकार से करते हैं। एक प्रकार वह होता है जिसे हम अप्रत्यक्षात्मक या अभिनयात्मक कह सकते हैं और दूसरा वह जो प्रत्यक्षात्मक या विश्लेषणात्मक कहा जा सकता है। एक ढंग तो यह है कि ये वस्तु-विन्यास और चरित्र-चित्रण-द्वारा ही जीवन की विभिन्न घटनाओं को उनके प्रकृत रूप में अंकित करते चलते हैं और उनके सम्बन्ध रखनेवाले नैतिक सिद्धान्तों का निरूपण भी आप-से-आप होता चलता है। अपने उपन्यासों में प्रायः ये इसी प्रणाली से अधिक काम लेते हैं। दूसरा ढंग यह है कि ये अपने पात्रों के कार्य-कलापों की, उनके आचार-विचार, रीति-नीति, आदि सभी बातों की, व्याख्या करके उनके सम्बन्ध में कुछ अपने सिद्धान्त भी स्थिर कर लेते हैं और प्रत्यक्ष रूप से, अपनी ही ओर से, उन सिद्धान्तों को आलोचनात्मक टिप्पणियों के रूप में उपस्थित करते चलते हैं।

प्रश्न यह उठता है कि इनके पात्रों के मुख से जो सिद्धान्त की बातें निकलती हैं वे क्या इनके निजी विचारों से ही सम्बन्ध नहीं रखतीं ? रखती भी हैं और नहीं भी रखतीं। यह पता लगाना कठिन है कि अपने किस पात्र के किन जीवन-सम्बन्धी सिद्धान्तों से इनके निजी सिद्धान्तों का मेल खाता है। इस प्रसंग में एक बात सदैव स्मरण रखनी चाहिए। वह यही कि पात्रों के मुख से कहलाई गई अधिकांश बातें उनकी (पात्रों की) रुचि और प्रवृत्ति की ही अनुगामिनी होती हैं। ऐसी अवस्था में प्रत्येक पात्र के प्रत्येक सिद्धान्त को प्रेमचन्दजी का ही सिद्धान्त मान लेना शुद्ध भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझा जा सकता। रुचि और प्रवृत्ति के भेद से सिद्धान्त-भेद का अटूट सम्बन्ध रहता है। यही कारण है कि 'सुमन' तो कहती है कि 'हम लोग विवाह को धर्म का बन्धन समझती हैं। हमारा प्रेम धर्म के पीछे चलता है ('सेवासदन'—पृ० २७५)" और 'कमला' की राय में "प्रेम के संसार में आदमी की बनाई सामाजिक व्यवस्थाओं का कोई मूल्य नहीं। विवाह समाज संगठन की केवल एक आयोजना है ('प्रतिज्ञा'—पृ० ९६)।" अमरकान्त "प्रेम के सामने मजहब की हक़ीकत नहीं समझता, कुछ भी नहीं ('कर्मभूमि'-पृ० १२८)।"

सकीना के साथ विवाह करने के विषय में वह "अपनी आत्मा को समाज का गुलाम नहीं बनाना चाहता" और समझता है कि "यह मुआमला मेरे और सकीना के दरमियान है। सोसाइटी को हमारे बीच में दख़ल देने का कोई हक़ नहीं ('कर्मभूमि'—पृ० १२६)।" किन्तु, 'विनय' को प्राणों से भी बढ़कर प्यार करनेवाली 'सोफ़िया' की राय में विवाह-जैसे "सामाजिक संस्कारों के लिए अपने सम्बन्धियों और समाज के नियमों की स्वीकृति अनिवार्य है, अन्यथा वे लज्जास्पद हो जाते हैं ('रंगभूमि'—पृ० ७२५)।" प्रेम, विवाह, धर्म, कर्म, रीति, रिवाज आदि भिन्न-भिन्न विषयों से सम्बन्ध रखनेवाले नैतिक सिद्धान्तों के जो भिन्न-भिन्न रूप इनके उपन्यासों में पाये जाते हैं वे अधिकतर इनके पात्रों की चरित्र-भिन्नता के ही द्योतक हैं।

जीवन की समीक्षा करते हुए ये सत्यता का साथ कभी नहीं छोड़ते। वह सत्यता उपन्यासों में वर्णित घटनाओं

सत्यता और कल्पना

तथा स्थितियों की वास्तविकता से सम्बन्ध रखती है, और वास्तविकता की उपेक्षा करते चलना इनकी कला का स्वभाव नहीं। किन्तु, इनकी औपन्यासिक सत्यता या वास्तविकता में कल्पना रहती ही

नहीं, सो बात नहीं। वह भी रहती है और उसमें ऐसी घुली-मिली रहती है, जैसे दूध में पानी। इनके द्वारा अंकित किये गये जीवन-चित्रों में वास्तविकता और कल्पना के रंगों का संमिश्रण जितना उपयोगी है उतना ही आकर्षक भी है। इनके उपन्यासों में हम केवल उन्हीं बातों का उल्लेख नहीं पाते जो हमारी आखों के आगे हो चुकी हैं या प्रति पल होती रहती हैं, अपितु, उनमें उन बातों का भी उल्लेख रहता है जो हो सकती हैं—जिनका होना असंभव नहीं है। जो असंभव है, वही असत्य है। जो संभव है, वह सत्य भी है। जो आज 'संभावना' के नाम से पुकारी जाती है, वही कल 'सत्यता' का नाम ग्रहण कर सकती है, क्योंकि आज जिसे हम 'सत्यता' कहते हैं, शायद, कल वही किसी के लिए केवल 'संभावना' ही रही होगी। जो कल्पना इस 'संभावना' की सीमा का अतिक्रमण नहीं करती वही साहित्य-कला में 'सत्यता' की अभिन्न संगिनी समझी जाती है। प्रेमचन्दजी की कल्पना ऐसी है।

कल्पना के स्वरूप-विधान में कल्पना करनेवाले की रुचि का बहुत बड़ा हाथ रहता है। जैसी हमारी रुचि रहती है, हमारी मनोवृत्ति का जैसा आग्रह होता है,

वैसी ही हमारी कल्पनाएँ भी हुआ करती हैं। उच्च आदर्श तथा पवित्र विचारों की छाया में चलनेवाली कल्पना ही साहित्य में 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' की सृष्टि कर सकती है।

तथ्यवाद और आदर्शवाद

प्रेमचन्दजी की कृतियों में हम इसी प्रकार की मंगलमयी कल्पनाओं का प्राधान्य पाते हैं। यही कारण है कि उनमें (कृतियों में) वास्तविकता के अवाञ्छित उपकरणों का प्रवेश नहीं हो पाता। जीवन की नग्न यथार्थता से इनकी कला सदैव बची रहती है। 'चक्रधर' के शब्दों में, इनका कहना है कि "यथार्थ का रूप अत्यन्त भयंकर होता है और हम यथार्थ ही को आदर्श मान लें तो संसार नरक-तुल्य हो जाय। हमारी दृष्टि मन की दुर्बलताओं पर न पड़नी चाहिये, बल्कि दुर्बलताओं में भी 'सत्य' और 'सुंदर' की खोज करनी चाहिये ('कायाकल्प'—पृ० १५२)।" परन्तु दुर्बलताओं के भीतर से 'सत्य' और 'सुन्दर' को खोज निकालने के लिए कलाकार का कर्त्तव्य क्या है? यही कि वह अपनी कला में 'तथ्यवाद' और 'आदर्शवाद' का उचित सामञ्जस्य संस्थापित करे। प्रेमचन्दजी ऐसा ही करते हैं। वास्तविकता के उपकरणों का चयन करते समय ये सदैव इस

बात का ध्यान रखते हैं कि वे इनकी रचनाओं को अश्लील या कुरुचि-पूर्ण बनानेवाले न हों। साथ ही, अपने आदर्शवाद को भी ये इतनी ऊँचाई पर रखकर नहीं चलते कि उसके साथ वास्तविकता का कहीं मेल न हो सके। 'है' और 'होना चाहिये' को मिलाकर ही ये अपनी कला का निर्माण करते हैं। ये तथ्यवादी भी हैं और आदर्शवादी भी। इस बात में रवि बाबू से ही इनका मेल खाता है, शरत् बाबू और 'प्रसाद' जी से नहीं—क्योंकि ये 'गोरा'-जैसे कल्पना-मिश्रित तथ्यों की विवेचना करने वाले आदर्शवाद-प्रधान उपन्यासों की ही रचना करते हैं, अनावृत और अमिश्रित वास्तविकताओं से भरी हुई कहानी कहनेवाले 'चरित्रहीन' और 'कंकाल'-जैसे कटु सत्यवादी उपन्यास नहीं लिखते।

नीति-शिक्षा और उसका कलात्मक मूल्य

इनके आदर्शवाद के कारण कुछ लोग इन्हें 'उपदेशक' या 'प्रचारक' की ही संज्ञा देना अधिक उपयुक्त समझते हैं। उनका ऐसा समझना कहाँतक युक्तिसंगत है, यह वे ही जानें। हम तो यही समझते हैं कि आदर्शवाद के बिना लोकोपयोगी साहित्य का निर्माण किया ही नहीं जा सकता। जो कलाकार अपनी कला में अपने उच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा

नहीं करता, वह और करता क्या है? उसकी कला का अस्तित्व ही फिर किस लिए है? पवित्र उद्देश्यों तथा नीति से सम्बन्ध रखनेवाले लोकोपयोगी विचारों का बहिष्कार करके कला के मंगलमय रूप का विधान कैसे किया जा सकता है, यह बात हमारी समझ में नहीं आती। समझ में आने लायक बात यह है भी नहीं।

सुन्दर भावों का प्रसार करना भी कला का एक पुनीत कर्त्तव्य है। लोक-धर्म से सम्बन्ध रखनेवाली नीति-शिक्षा की उपेक्षा करके वह समाज के भीतर अधिक दिनों तक टिक नहीं सकती। जीवन, जब नैतिक तत्त्वों या उच्च आदर्शों से सम्बन्ध तोड़ लेता है तब वह जीवन नहीं रह जाता। तब वह कला के सौन्दर्य्य का विधायक नहीं, उसके विकास का प्रबल बाधक ही बन जाता है। चोरों, डाकुओं और हत्यारों तक के कुछ अपने नैतिक सिद्धान्त और नियम होते हैं। उनके जीवन-व्यापार पर भी उनके उन सिद्धान्तों और नियमों का नियंत्रण रहता है। उनका जीवन भी सर्वथा नीति-शून्य नहीं होता। जहाँ जीवन रहेगा वहाँ किसी-न-किसी प्रकार के नैतिक सिद्धान्त और नियम रहेंगे ही। साहित्य जीवन की ही व्याख्या करता है। इसलिये, उसमें नीति को जीवन से अलग नहीं किया

जा सकता। जहाँ जीवन की व्याख्या होगी, वहाँ किसी-न-किसी रूप में, किसी-न-किसी प्रकार के नैतिक प्रश्न पर भी विचार करना ही पड़ेगा। इसीसे कला के भीतर नीति-शिक्षा का भी एक स्थान है—होना ही चाहिए।

हाँ, इस सम्बन्ध में कलाकार को इतना अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करनेवाला उच्चादर्श, जीवन की सत्यता और स्वाभाविकता का स्थान न छीन ले। ऐसा न हो की नीति के प्रश्न मुख्य हो जायँ और वे कला के अन्यान्य उपयोगी एवं आवश्यक तत्त्वों को गौन बना दें। इसका भी ध्यान रखना चाहिए कि उसकी नीति-शिक्षा के वाक्य सूखे और बनावटी सिद्धान्तों को लेकर न चलें, जीवन के बाहरी ढकोसलों के साथ उनका कोई सम्बन्ध न रहे। उनके द्वारा संवाहित भाव हृदय को अनावश्यक भार-से न जान पड़ें। अपनी कला में नीति-तत्त्वों का समावेश करते समय प्रेमचन्दजी इस बात से सदैव सतर्क रहते हैं। ये पात्रों को भिन्न २ स्थितियों में डालकर, उनके विभिन्न प्रकार के चरित्र-सौन्दर्य्य का साक्षात्कार कराते हुए, उन्हीं के द्वारा अवसरोचित नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन कराते चलते हैं। उन सिद्धान्तों के भीतर नीति-शिक्षा के जो तत्त्व भरे रहते

हैं उनका साहित्यिक महत्त्व इसलिए है कि वे पात्रों के जीवन की गंभीर अनुभूति से सम्बन्ध रखते हैं।

वास्तविक घटनाओं का चित्र ही ये ऐसे ढंग से खींचते हैं, इनकी वस्तु-विन्यास तथा चरित्र-चित्रण की प्रणाली ही ऐसी है कि उसके द्वारा जीवन के शिक्षाप्रद अंगों का परिचय आप से आप मिलता चलता है। इसलिए, इनके साहित्य में नीति-शिक्षा की जो बातें आती हैं वे बाहर की नहीं होतीं। सच तो यह है कि प्रभावशाली नीति-शिक्षा और जीवन का सम्बन्ध इतना स्वाभाविक और सुदृढ़ है कि साहित्य के लिए नीति बाहर की वस्तु हो ही नहीं सकती। जबतक कला का उद्देश्य मानवीय भावों और विचारों को परिष्कृत करना तथा उन्हें समुन्नत बनाना रहेगा, तबतक वह नीति-शिक्षा की उपेक्षा करेगी कैसे? प्रेमचन्दजी की कला का यही प्रधान उद्देश्य है। इसलिए, इनके उपन्यासों में उच्चादर्श तथा नीति-शिक्षा का भी एक कलात्मक मूल्य है और सदैव बना रहेगा।

उपसंहार

प्रेमचन्दजी ने, अपने उपन्यासों-द्वारा, कला के जिस मंगलमय चिर-सुन्दर स्वरूप का विधान किया है उसका थोड़ा-बहुत अवलोकन हम कर चुके। अब, अन्त में, हमें यह भी देख लेना चाहिए कि अपनी तथा पराई भाषा के समकालीन औपन्यासिकों के बीच इनका स्थान क्या है।

हिन्दी के औपन्यासिकों में तो, अभी तक, इनका स्थान अद्वितीय है। इनकी लोक-प्रियता उन प्रान्तों में भी है जहाँ के लोगों की मातृ-भाषा हिन्दी नहीं। हमारी भाषा और हमारे साहित्य को इनकी रचनाओं ने जो गौरव प्रदान कर रखा है वह न कभी मुरझायेगा, न मरेगा। हमारे कथा-साहित्य को प्रगतिशील बनाने का, इसके अबतक के श्री-सम्वर्द्धन का श्रेय इन्हीं को है। किन्तु, इसका यह आशय नहीं कि हिन्दी में अच्छे-अच्छे उपन्यासकार इस समय और हैं ही नहीं। हैं; और कुछ तो बड़े ही प्रतिभाशाली हैं। प्रसादजी, कौशिकजी, वृन्दावनलालजी, चतुरसेनजी, उग्रजी, जैनेन्द्रजी आदि क्षमताशाली कलाकारों का हमें कुछ कम गर्व नहीं है। बात इतनी ही है कि ये सब-के-सब एक ही श्रेणी, एक ही योग्यता और एक ही महत्त्व के अधिकारी नहीं समझे जा सकते।

प्रेमचन्द तथा हिन्दी के अन्य औपन्यासिक

उपन्यासकार के नाते प्रसादजी वहीं नहीं हैं जो प्रेमचन्दजी हैं। इन दोनों की साहित्यिक संस्कृति में ही एक मौलिक विभेद है। दोनों के दो आदर्श हैं, दोनों की कलात्मक प्रवृत्ति के दो रूप हैं। प्रसादजी के भावों में हिन्दू-मनोवृत्ति का ही आधिपत्य

प्रेमचन्द और 'प्रसाद'

रहता है, प्रेमचन्द जी मुसलमानी मनोवृत्ति का बहिष्कार कर ही नहीं सकते। यही कारण है कि प्रसादजी मुसलमान पात्रों के चरित्र-चित्रण में उच्चकोटि की सफलता नहीं पा सकते और प्रेमचन्दजी इस काम में कमाल करते हैं। सच तो यह है कि प्रेमचन्दजी के मुसलमान पात्र इनके हिन्दू पात्रों से कहीं बढ़कर आकर्षक और प्रभावोत्पादक होते हैं—जैसे, कादिर खाँ, ख्वाजा महमूद, सलीम, काले खाँ, सकीना और जोहरा। राष्ट्रीय-हित की दृष्टि से, इस समय, हिन्दू कलाकारों की यह मनोवृत्ति सर्वथा स्वाभाविक और स्पृहणीय है।

प्रसादजी की भाषा पर भी प्राचीनतम हिन्दू-संस्कृति की गहरी छाप लगी रहती है, और सब से बड़ी बात तो यह है कि उसकी शैली के स्वरूप में कहीं किसी प्रकार की विभिन्नता आ ही नहीं सकती। इनकी भाषा की यह एकरूपता उपन्यास में, कहीं-कहीं, अस्वाभाविकता की प्रतिमूर्त्ति बन जाती है और, कुछ लोगों के मतानुसार, इनकी सफलता के मार्ग में थोड़ी-बहुत बाधा भी उपस्थित कर देती है। प्रेमचन्दजी की भाषा पर उर्दू-शैली का प्रभाव है—और यह प्रभाव इनकी उपन्यास-कला के सौन्दर्य्य का एक सुदृढ़ संरक्षक है। सारांश यह कि हमारे ये

दोनों ही श्रेष्ठ कलाकार संस्कृति, प्रवृत्ति, भाव, भाषा आदि सभी बातों के नाते, दो भिन्न चीज हैं और, इसीलिए, इन दोनों की उपन्यास-कला के भी दो भिन्न स्वरूप हैं। प्रसादजी का 'कंकाल' अनावृत और अमिश्रित वास्तविकताओं से भरी कई मार्मिक कहानी कहनेवाला एक कटु सत्यवादी उपन्यास है और प्रेमचन्दजी का 'सेवासदन' है कल्पना-मिश्रित तथ्यों की विवेचना करनेवाला आदर्शवादी उपन्यास। एक उपन्यास हमें यही बताता है कि हम कैसे हैं, दूसरा यह भी बता देना अपना कर्त्तव्य समझता है कि हमें किस तरह के होने चाहिए। दोनों ही हमारी सामाजिक स्थिति की ही व्याख्या करते हैं, किन्तु दोनों हैं दो 'प्रकार' के।

प्रेमचन्द और 'कौशिक'

पं० विश्वम्भरनाथजी शर्मा 'कौशिक' की रचना-शैली प्रेमचन्दजी की रचना-शैली से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। किन्तु प्रेमचन्दजी की विशेषताओं से ये सर्वथा अभिवञ्चित हैं। इनकी 'भिखारिणी' में और 'माँ' में वस्तु-विन्यास की वह सुन्दरता, चरित्र-चित्रण की वह सजीवता, भाषा-शैली की वह सुषमा, नहीं पाई जाती जो प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में सर्वत्र विद्यमान है।

बाबू वृन्दावनलाल वर्मा की रचनाओं में प्रेमचन्दजी की रचनाओं से एक विशेषता है। इनके 'गढ़ कुंडार' और 'कुंडलीचक्र' नामक उपन्यासों में मानवीय भावनाओं के साथ प्राकृतिक दृश्यों के जिस मधुर सामञ्जस्य की सृष्टि की गई है, वह हिन्दीवालों को अँगरेजी भाषा के सुप्रसिद्ध औपन्यासिक 'स्कॉट' की याद दिलाता है। इस बात में मराठी भाषा के सुप्रसिद्ध उपन्यास 'सम्राट अशोक' और 'छत्रसाल' के यशस्वी लेखक, श्रीबालचन्द नानचन्द शाह वकील के साथ भी वृन्दावनलालजी की तुलना बड़े मजे में की जा सकती है। इनका 'प्रेम की भेंट' नामक उपन्यास तो भाव-सौन्दर्य्य की दृष्टि से भी प्रेमचन्दजी के उपन्यासों की समता का दावा करता है—और उसका यह दावा बहुत दूर तक ठीक है। किन्तु प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में, वस्तु-विधान, चरित्र-चित्रण, भाषा-शैली आदि के अतिरिक्त, जीवन के जो नाना रूपात्मक चित्र देखने को मिलते हैं, उनको ये (वृन्दावनलालजी) अपने उपन्यासों में अंकित कर नहीं सकते।

प्रेमचन्द और वृन्दावनलाल

श्री चतुरसेन जी शास्त्री की 'हृदय की प्यास' तथा 'हृदय की परख' और पाण्डेय बेचन शर्माजी 'उग्र' के

'चन्द हसीनों के ख़ुतूत' तथा 'दिल्ली का दलाल' भी अच्छे उपन्यास हैं—बहुत अच्छे। इन

प्रेमचन्द तथा चतुरसेन और 'उग्र'

दोनों ही उपन्यास लेखकों के भाव प्रायः एक-से हैं, रुचि एक सी है, भाषा-शैली एक-सी है। दोनों ही के हृदय में एक आग-सी धधकती रहती है, दोनों ही की वाणी में आग की चिनगारियाँ भरी रहती हैं। दोनों ही समाज के काले रूप का ही चित्र उतारते हैं, किन्तु इनके चित्रों में एक अनूठा कालात्मक सौन्दर्य्य रहता है। इनके बनाये नरक भी इतने सुन्दर और आकर्षक होते हैं कि उनमें अच्छे-अच्छों के गिर पड़ने का खतरा रहता है। ऊँचे आदर्शों या गंभीर-नैतिक सिद्धान्तों के साथ तो इनकी कला का सम्बन्ध प्रायः नहीं-ही के बराबर है और उस नाते ये दोनों ही प्रेमचन्दजी के ठीक विपरीत चलते हैं। सारांश यह कि प्रेमचन्दजी की कला का सौन्दर्य्य, सम्पूर्ण जीवन के सौन्दर्य्य का प्रतिनिधि है और उन दोनों की कला का सौन्दर्य्य है भाषा-शैली के सौन्दर्य्य का प्रतिबिम्ब मात्र।

श्री जैनेन्द्रकुमारजी की 'परख' हमारे वर्त्तमान कथा-साहित्य की एक चीज है और बड़ी कीमती चीज है। इसमें जो कुछ अंकित किया गया है वह—स्वयं

प्रेमचन्दजी के शब्दों में—"अन्तःप्रेरणा और दार्शनिक संकोच का संघर्ष है, इतना हृदय को मसोसनेवाला, इतना स्वच्छन्द और निष्कपट जैसे बंधनों में जकड़ी हुई आत्मा की पुकार हो ('हंस,—वर्ष ३, संख्या ४, पृष्ठ ६३)।"

प्रेमचन्द और जैनेन्द्र कुमार

कहने की आवश्यकता नहीं कि अन्तस्तल की अलक्षित वेदना का इतना बढ़िया विश्लेषण प्रेमचन्दजी नहीं कर सकते। जैनेन्द्रजी से हिन्दी को बड़ी आशा है। इनकी वस्तु-विधान और चरित्र-चित्रण की प्रणाली में तो नवीनता है ही, भाषा-शैली भी बिल्कुल निराली है। किन्तु इसके (भाषा के) सम्बन्ध में हम यहाँ एक बात स्पष्ट कह देना चाहते हैं—इनके उपन्यासों की भाषा-शैली सुन्दर अवश्य है पर कहीं-कहीं वह स्वाभाविकता से बहुत दूर दीख पड़ती है। इसका प्रधान कारण यही है कि ये अपनी भाषा को अँग्रेजी और फ्रांसीसी भाषाओं के ढर्रे पर ढालने का प्रयास करते हैं। भाषा की यह अस्वाभाविकता ही जैनेन्द्रजी में एक खटकनेवाली बात है। प्रेमचन्दजी इस बात से बराबर बचे रहने की कोशिश करते हैं, इसी से इनकी भाषा ठीक वैसी ही होती है जैसी कथा-कहानियों की भाषा होनी चाहिए।

अनुभूति-भेद

ऊपर जिन लेखकों का उल्लेख किया गया है उनमें केवल कौशिकजी ही ऐसे हैं जिनकी रचना-पद्धति प्रेमचन्दजी की रचना-पद्धति से मिलने-जुलने का दावा कर सकती है। और जितने लोग हैं, उनकी कला और प्रेमचन्दजी की कला के स्वरूपों में ही भिन्नता नहीं है, उद्देश्य भी भिन्न-भिन्न हैं। और, इस उद्देश्य-भिन्नता का एकमात्र कारण है अनुभूति-भेद। प्रेमचन्दजी की कुछ अनुभूतियाँ समय की प्रवृत्ति के नाते, पुरानी हो चली हैं। हमारे नये कलाकार अब जीवन का अनुभव नये ढंग से कर रहे हैं, उनकी जीवन-समीक्षा की प्रणाली भी नई बनती जा रही है और उसका अब एक ही विषय मुख्य रह गया है—'हृदय'। स्वभावतः, उनकी कला के विधान में भी नये-नये उपकरणों का समावेश होता जा रहा है। पुराने लोगों में प्रसादजी ही एक ऐसे कलाकार हैं जिनके आदर्श तो पुराने हैं, पर जिनकी अनुभूति में नवीनता ही नवीनता भरी हुई है। किन्तु, यह सब होते हुए भी, प्रेमचन्दजी हिन्दी के 'औपन्यासिक सम्राट' हैं, इसमें सन्देह नहीं। इनके उपन्यासों ने हमारी साहित्य-कला के लिए जो आदर्श खड़ाकर दिया है उसे कोई हिला नहीं सकता, मलिन नहीं बना सकता।

कलाकार के नाते, प्रेमचन्दजी का व्यक्तित्व ऐसा नहीं है कि देश-विदेश के अन्यान्य समकालीन औपन्यासिकों के साथ इनका नाम लिया जाना धृष्टता का अपराध समझा जाय। इनकी रचनाओं में, स्थान-स्थान पर, विश्व-भावनाओं की जो विकास-रेखाएँ दीख पड़ती हैं वे इन्हें ससार के किसी भी श्रेष्ठ कलाकार के पास तक पहुँचानेवाले मार्ग का काम दे सकती हैं—देंगी ही। इस युग का कोई भी प्रश्न अब एक-राष्ट्रीय नहीं रह गया है—प्रत्येक प्रश्न के साथ किसी-न-किसी प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व लगा रहता है। प्रेमचन्दजी के उपन्यास भारत की उन गंभीर समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं जिन का सम्बन्ध एक मात्र भारत के ही हितों से नहीं, सारे संसार के हितों से है। भारत की सुख-स्वतन्त्रता समस्त मानव-जाति की सुख-स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त करेगी, इसकी दुख-दीनता अभिशाप बनकर समूचे पृथ्वी-मण्डल पर मँडराती रहेगी। भारत हँसेगा तो दुनिया हँसेगी, यह रोयेगा तो दुनिया को भी रोते ही रहना पड़ेगा। इसी तरह, जो साहित्य इसकी वर्त्तमान अवस्था से सम्बन्ध रखनेवाले सभी प्रकार के प्रश्नों पर विचार करने का अवसर देगा, विश्व-साहित्य उसे कभी

प्रेमचन्द तथा देश-विदेश के कुछ अन्य औपन्यासिक

अपनी सीमा से बाहर रहने नहीं दे सकता। प्रेमचन्दजी का साहित्य ऐसा ही है। अतएव, देश तथा विदेश के उच्चकोटि के कलाकारों के साथ इनका नाम लिया जाना सर्वथा स्वाभाविक है—स्वाभाविक समझा जाना चाहिए ही। यहाँ हम अन्यान्य भाषाओं के उन्हीं चुने हुए औपन्यासिकों की कला के साथ इनकी कला का मिलान करना चाहते हैं, जो इनके समकालीन हैं तथा जिनके साथ इनका साम्य या पार्थक्य दिखाने का आधार अबल नहीं है।

प्रेमचन्द और रवीन्द्रनाथ

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी, प्रेमचन्दजी की ही तरह, कला में उच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा करनेवाले लोकोपयोगी कलाकार हैं। जीवन और जगत की अवाञ्छनीय वास्तविकताओं को आकर्षक ढंग से चित्रित करके 'सनसनी' (Sensation) फैला देने का प्रयास ये भी कभी नहीं करते। साहित्य में सुरुचि और संयम का जो महत्त्व है, उसको ये दोनों ही कलाकार बराबर याद रखते हैं—याद ही नहीं रखते, अपनी कृतियों-द्वारा समाज के बीच उसके प्रसार की समुचित चेष्टा भी करते हैं।

वैयक्तिक तथा सामुदायिक जीवन की जटिल

समस्याओं पर विचार करने की प्रवृत्ति दोनों ही में प्रायः एक ही-सी है। परन्तु, उन समस्याओं को सुलझाने की क्षमता में रवि बाबू, प्रेमचन्दजी से बढ़कर हैं। प्रेमचन्दजी के सम्बन्ध में कुछ लोगों का कहना है कि ये समस्याओं की सृष्टि तो बड़े अच्छे ढंग से करते हैं परन्तु जब देखते हैं कि वे बुरी तरह उलझ गईं, और अब अच्छी तरह सुलझाई नहीं जा सकतीं, तब तुरन्त ही उनसे सम्बन्ध रखनेवाले पात्रों की मृत्यु करा देते हैं—और इस तरह समस्याओं की समाप्ति आप से आप हो जाती है। ('रंगभूमि में') सूरदास और विनय की मृत्यु इस कथन की सत्यता का प्रमुख आधार समझी जाती है। लेकिन, प्रश्न तो यह है कि आखिर उस स्थल पर, उस परिस्थिति में, और किया ही क्या जा सकता था? यह तो ठीक है कि जितनी ही कम मृत्यु कराई जाय, उतना ही अच्छा—क्योंकि पात्रों की मृत्यु अधिकतर लेखक की कलात्मक असमर्थता ही प्रकट करती है, उद्भावना-शक्ति की प्रौढ़ता नहीं। किन्तु जहाँ इसीसे कला के उद्देश्य की पूर्ति होती हो वहाँ क्या किया जाय? शेक्सपियर ने भी तो अपने सर्वोत्तम कहे जानेवाले सुप्रसिद्ध नाटकों में खास कर 'हेमलेट' में पात्रों की कुछ कम हत्याएँ नहीं

कराई हैं। इसलिए 'सूरदास' और 'विनय' की मृत्यु के सम्बन्ध में हम कुछ आपत्ति नहीं कर सकते। पर इतना तो मानना ही पड़ेगा कि प्रेमचन्दजी के पात्र कभी-कभी इनकी निजी सुविधा के विचार से भी मर जाते हैं—जैसे 'ग़बन' की 'ज़ोहरा' मरी है। रवि बाबू को ऐसी सुविधा की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे ऐसे ही पात्रों का और उनकी ऐसी ही समस्याओं का सृजन करते हैं जिनको वे सम्हाल सकते हैं, जिनको अच्छी तरह सुलझा सकते हैं।

व्यक्तित्व के नाते, इन दोनों में जो अन्तर है वह तो है ही, भावुकता के नाते भी बहुत बड़ा अन्तर है। रवि बाबू की भावुकता के आगे प्रेमचन्दजी की भावुकता टिक नहीं सकती। परन्तु, एक बात माननी पड़ेगी। वह यही कि प्रेमचन्दजी की रचनाओं में जो विषय की विविधता (Variety) रहती है—उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार की अनेक रूपात्मक समस्याओं का जो अनुपम संघर्ष देखने को मिलता है—वह रवि बाबू की रचनाओं में भी नहीं पाया जाता।

श्री शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय और प्रेमचन्दजी में स्पष्ट अन्तर यह है कि एक की कला में 'नारी भाव' की प्रधानता रहती है, दूसरे की कला में 'पुरुष भाव' की। एक कोमलता

प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र

की व्यञ्जना करती है, दूसरी ओजस्विता की। एक की कहानी हृदय-संग्राम से सम्बन्ध रखती है, दूसरे की जीवन-संग्राम से। एक की कथा-सामग्री का क्षेत्र परिसीमित है, दूसरे की अति विस्तृत। अपनी रचनाओं मे प्रेमचन्दजी सम्पूर्ण जीवन की समीक्षा करते चलते हैं और शरच्चन्द्र अधिकतर हृदय की भावनाओं के ही विश्लेषण में लगे रहते हैं। यही कारण है कि शरत् बाबू की रचनाओं में कला के कोमल उपकरणों की जितनी अधिकता रहती है प्रेमचन्दजी की रचनाओं में उतनी नहीं। प्रेमचन्दजी की कला में नाना रूपात्मक जीवन की जो सम्पूर्णता और सजीवता पायी जाती है वह शरच्चन्द्र की कला में नहीं दीख पड़ती, इसका भी कारण यही है। इन दोनों ही कलाकारों के वस्तु-क्षेत्र भी भिन्न-भिन्न होते हैं और वस्तु-तत्त्व भी। इसी से प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में आदर्शवाद की प्रधानता रहती है और शरच्चन्द्र के उपन्यासों में तथ्यवाद की।

और, जैसा कि हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं, शरत् बाबू के उपन्यासों में पाठकों को एक प्रकार के औत्सुक्यपूर्ण असमञ्जस में डाल रखने की अद्भुत क्षमता रहती है। प्रेमचन्दजी इस क्षमता के क्षेत्र में उनसे पीछे

हैं। ये प्रायः सभी बातें पाठकों के आगे स्पष्ट रूप से खोल कर रख देते हैं, उन्हें अपनी कल्पना को काम में लाने का अवसर नहीं देते। शरच्चन्द्र ठीक इसका उलटा करते हैं— अपनी ओर से कहते हैं कम और पाठकों के लिए समझने-बूझने को छोड़ देते हैं बहुत। यही बात, सुप्रसिद्ध गुजराती उपन्यास 'पृथ्वी-वल्लभ' के रचयिता—"आधुनिक गुजराती-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ एवं शक्तिशाली उपन्यास-लेखक"—श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी में भी है।

दोनों के आदर्श और उद्देश्य भी भिन्न-भिन्न हैं— दोनों की दिशाएँ दो हैं। जीवन की व्यापक और गंभीर समस्याओं के नाते प्रेमचन्दजी, शरत् बाबू से अधिक महत्वपूर्ण हैं और अन्तस्तल की निगूढ़ समस्याओं के नाते, शरत् बाबू हैं प्रेमचन्दजी से अधिक आकर्षक।

प्रेमचन्द और 'हार्डी'

अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध उपन्यास 'टेस' के लेखक 'टॉमस हार्डी' की रचनाओं में ग्रामीण जीवन के जैसे सुन्दर-सुन्दर चित्र देखने को मिलते हैं, वैसे ही प्रेमचन्द जी की रचनाओं में भी। ग्राम्य-तत्त्व की प्रधानता दोनों ही के उपन्यासों की शोभा है। किन्तु इस शोभा को दोनों दिखलाते अलग-अलग ढंग से हैं। प्रेमचन्द जी के ग्राम्य-तत्त्व अधिकतर मानव-जगत

से ही सम्बन्ध रखनेवाले होते हैं, परन्तु 'हार्डी' प्रकृति-जगत का साथ कभी नहीं छोड़ते। उनके पात्र प्रकृति की अंचल-छाया से अलग हटकर अपनी भावनाओं के सौन्दर्य्य का पूरा-पूरा विकास नहीं कर सकते—वे प्राकृतिक दृश्यों को अपनी अनुभूति का एक आवश्यक आधार बनाये रहते हैं। प्रेमचन्दजी अपने पात्रों की जीवन-घटनाओं के साथ प्रकृति की सहानुभूति का भाव तो प्रदर्शित करते चलते हैं, किन्तु, उसके बाह्य सौन्दर्य्य को—उसके मनोरम दृश्यों को—अच्छी तरह अंकित नहीं करते। जहाँ उन्हें उसके दृश्यों को अंकित करने की आवश्यकता पड़ती है वहाँ दो ही-चार शब्दों में उसका ऊपरी वर्णन करके ये अपना काम चला लेते हैं। 'हार्डी' इस काम में ऐसी उदासीनता दिखा ही नहीं सकते। प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन की सम्पूर्णता, सजीवता और सरसता ही तो उनकी उपन्यास-कला की पोषण-शक्ति है। प्रेमचन्दजी के ग्राम्यतत्त्व का एक अंग परम्परागत अंधविश्वास (Superstition) की अभिव्यक्ति करना भी होता है; भूत-प्रेत का भय तथा 'मारन-मोहन-वशीकरण' आदि के विश्वास की झलक भी ये कहीं-कहीं दिखा ही देते हैं—जैसे 'रंगभूमि' में विनय का अपनी सोफिया को जड़ी सुँघाकर मोहने की चेष्टा

करना और 'सेवासदन' में सदन सिंह का भूत की शंका करना।

एक बात और। 'हार्डी' की रचनाओं निराशावाद की मात्रा अधिक पाई जाती है और आदर्शवाद का तो एक प्रकार से अभाव ही समझना चाहिए। प्रेमचन्दजी ठीक इसके विपरीत हैं। हाँ दोनों ही के पात्रों की बातचीत का ढर्रा प्रायः एक ही-सा होता है—'कथोपकथन' के नाते दोनों औपन्यासिकों में बड़ी समता है।

प्रेमचन्द और 'गाल्सवर्दी'

विश्वविख्यात अंग्रेजी उपन्यास 'फारसेट सागा' के लेखक 'जान गाल्सवर्दी' और प्रेमचन्दजी में इतना ही अन्तर है कि प्रेमचन्दजी जहाँ जीवन की साधारण आवश्यकताओं के अभाव में तड़पते हुए, अन्न-वस्त्र के दुख से दुखी, दीन-हीन प्राणियों की व्यथा का मार्मिक विश्लेषण करते हैं, वहाँ 'गाल्सवर्दी' की कला का प्रवेश कम है। वे तो अधिकतर असाधारण वर्ग के असाधारण प्राणियों की असाधारण वेदना के ही विश्लेपक-जान पड़ते हैं—साधारण मनुष्यों के, दीन-हीन प्राणियों के अभाव-कष्ट की कथा उनकी उपन्यास-कला के लिए कोई विशेष आकर्षण नहीं रखती दीख पड़ती। हाँ, उनके कुछ नाटक ऐसे अवश्य हैं जिनमें समाज की

उन्हीं सामयिक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है जो साधारण वर्ग के लोगों के सुख-दुख से सम्बन्ध रखने वाली हैं, और जिन पर प्रकाश डालना ही प्रेमचन्दजी की उपन्यास-कला का प्रधान काम होता है।

प्रेमचन्द और 'गोर्की'

रूसी भाषा के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार 'मैक्सिम गोर्की' अपनी रचनाओं में अपने देश की स्थिति का चित्रण उसी तरह करते हैं जिस तरह प्रेमचन्दजी। 'गोर्की' वर्त्तमान रूस की सामाजिक और राजनीतिक क्रान्ति के सब से बड़े विश्लेषक हैं और प्रेमचन्दजी आधुनिक भारत की सामाजिक और राष्ट्रीय भावनाओं के। गोर्की के 'मदर' (माँ) नामक उपन्यास की समस्याओं तथा 'रंगभूमि' की समस्याओं के स्वरूप में बड़ी समता है। 'डिकन्स' की तरह 'गोर्की' की रचनाओं में भी चोरों, डाकुओं, पियक्कड़ों आदि के बड़े आकर्षक चरित्र-चित्र देखने को मिलते हैं। वस्तुतः समाज के दीन-हीन, लांछित और वहिष्कृत लोगों के आभ्यन्तरिक जीवन की व्याख्या करने में ये कमाल करते हैं। 'कर्मभूमि' के 'काले खाँ'-जैसे दो-एक इसी वर्ग के पात्रों का चरित्र-चित्रण प्रेमचन्दजी ने भी अपनी रचनाओं में किया है, किन्तु ऐसा करते समय इन्होंने मार्मिकता से उतना

काम नहीं लिया है जितना दार्शनिकता से। जिन्हें हम अधमता के पैरों तले लोटते देखते हैं और मनुष्य की तरह नहीं मानते, उनकी छिपी हुई मनुष्यता के मार्मिक उपकरणों का उद्घाटन और विश्लेषण करना 'गोर्की' की कला का मुख्य उद्देश्य रहता है किन्तु प्रेमचन्दजी की कला का उद्देश्य रहता है उन्हें बाहरी नैतिक दृष्टान्तों-द्वारा मनुष्यता के आदर्श रूप का बोध कराना।

कला की आत्मा का स्वरूप कहीं नहीं बदलता। उसके बाहरी रूप में ही पृथकता दीख पड़ती है। प्रेमचन्दजी की 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' कला, बाह्य उपकरणों के कारण, कुछ बातों में, औरों की कला से भले ही भिन्न दीख पड़े, किन्तु, वस्तुतः, उसकी आत्मा का भी स्वरूप वही है जो विश्व के सभी श्रेष्ट कालाकारों की कला में सदा सत्य सुंदर और मंगलमय बना रहता है।